

ISSN-0972-1002

श्रमण ŚRAMAṆA

A Quarterly Research Journal of Jainology

Vol. LIX

No. IV

October-December 2008



Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi
पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

श्रमण ŚRAMAᅇA

A Quarterly Research Journal of Jainology

Vol. LIX

No. IV

October - December 2008

Editor

Hindi Section

Dr. Vijaya Kumar

English Section

Dr. S.P. Pandey

Publisher



Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi

*Recognized by Banaras Hindu University
as an external Research Centre*

श्रमणः जैनशास्त्र की त्रैमासिक शोध-पत्रिका
Śramaṇa: A Quarterly Research Journal of Jainology

Vol. LIX **No. IV** **October-December 2008**

ISSN-0972-1002

Subscription

Annual membership

For Institutions: Rs. 250.00

For Individuals: Rs. 200.00

Per Issue Price: Rs. 50.00

Life Membership

For Institutions: Rs. 1500.00

For Individuals: Rs. 500.00

*Membership fee can be sent in the form of cheque or
draft only in the name of Parshwanath Vidyapeeth*

Published by : **Parshwanath Vidyapeeth**
I. T. I. Road, Karaundi, Varanasi-221005
Ph. 911-0542-2575521, 2575890
Email : } parshwanathvidyapeeth@rediffmail.com
 } pvri@sify.com
Website : www.parshwanathvidyapeeth.org

Type Setting by : **Add Vision**
Karaundi, Varanasi-221005

Printed at : **Vardhaman Mudranalaya**
Bhelupur, Varanasi-221010

Note : The Editor may not be agreed with the views or the facts
stated in this Journal by the respected authors.

श्रमण

अक्टूबर-दिसम्बर २००८

विषयसूची

हिन्दी खण्ड

१. पर्यावरण और वनस्पति	डॉ० सुधा जैन	१-८
२. देहात्मवाद	डॉ० विजय कुमार	९-१८
३. धृतगनिहेस में प्रयुक्त अर्थघटन के उपकरण	श्रीमती सरिता कुमारी डॉ० अविनाश कुमार श्रीवास्तव	१९-२८
४. भरत : एक शब्द-यात्रा	वेद प्रकाश गर्ग	२९-३६
५. जैन चिन्तन में संपोष्य विकास की अवधारणा	डॉ० पंकज कुमार शुक्ल डॉ० नागेन्द्र नाथ मिश्र	३७-४६
६. जैन साहित्य में श्रमिकों की दशा	डॉ० रघुवर दयाल सिंह	४७-५०
७. उत्तरी मध्यप्रदेश में जैन धर्म : १०वीं से १३वीं शताब्दी ई० तक	यशवन्त सिंह	५१-५४
८. विश्वशांति और अहिंसा : एक विश्लेषण	डॉ० मुक्तेश्वर नारायण सिंह	५५-५९
९. भास का प्राकृत प्रयोगजन्य दर्शन	डॉ० रामा शंकर रजक	६०-७१
१०. पूर्व-मध्य कालीन जैन ग्रंथों में शिक्षा के तत्त्व	रवि शंकर गुप्ता	७२-७६
११. अष्टपाहुड एवं प्रवचनसार के परिप्रेक्ष्य में योग्य-अयोग्य साधु विवेचन	आनन्द कुमार जैन	७७-८५

ENGLISH SECTION

12. Śvetāmbara Scholars on Kundakunda: An appraisal	Dr. Jagdish Prasad Jain	87-104
13. Revising Buddhism in Mughal India: Through the Seventeenth Century Persian Literature Dabistan-I Mazahib	Dr. Damodar Singh	105-113
14. Theory of Karma and Rebirth in Theravāda	Dr. Abha Singh	114-122
15. Jainism, Art and Education-An overture	Priti Kumari	123-131
16. Practice of Brahmavihāra in Theravāda Buddhism	Archphurich Nomnian	132-141
17. Consciousness in Sartrean and Jaina Philosophy	Samani Chaitya Prajna	142-156
18. Women Working Class as reflected in Buddhist Literature : An analytical view.	Dr. Anita Singh	157-163
19. Life Story of Rṣabhadeva	Rudrani Mukerjee	164-178
२०. पार्श्वनाथ विद्यापीठ के प्राङ्गण में		१७९-१८७
२१. जैन जगत्		१८८-१९०
२२. साहित्य सत्कार		१९१-१९६

हिन्दी खण्ड

- पर्यावरण और वनस्पति डॉ० सुधा जैन
- देहात्मवाद डॉ० विजय कुमार
- धृतंगनिहेस में प्रयुक्त अर्थघटन के उपकरण श्रीमती सरिता कुमारी
डॉ० अविनाश कुमार श्रीवास्तव
- भरत : एक शब्द-यात्रा वेद प्रकाश गर्ग
- जैन चिन्तन में संपोष्य विकास की अवधारणा डॉ० पंकज कुमार शुक्ल
डॉ० नागेन्द्र नाथ मिश्र
- जैन साहित्य में श्रमिकों की दशा डॉ० रघुवर दयाल सिंह
- उत्तरी मध्यप्रदेश में जैन धर्म : १०वीं से १३वीं शताब्दी ई० तक यशवन्त सिंह
- विश्वशांति और अहिंसा : एक विश्लेषण डॉ० मुक्तेश्वर नारायण सिंह
- भास का प्राकृत प्रयोगजन्य दर्शन डॉ० रामा शंकर रजक
- पूर्व-मध्य कालीन जैन ग्रंथों में शिक्षा के तत्त्व रवि शंकर गुप्ता
- अष्टपाहुड एवं प्रवचनसार के परिप्रेक्ष्य में योग्य-अयोग्य साधु विवेचन आनन्द कुमार जैन

पर्यावरण और वनस्पति

डॉ० सुधा जैन*

पर्यावरण की अवधारणा के विषय में विद्वद्ग्यों ने विभिन्न रूपों में अपने विचार व्यक्त किए हैं। परन्तु पर्यावरण एक अविभाज्य समष्टि है जिसका निर्माण भौतिक एवं जैविक घटकों के पारस्परिक क्रियाशील तन्त्रों से होता है। किसी क्षेत्र के परितन्त्र एवं उसके जीव, जातियों, वनस्पतियों से कतिपय दूसरे क्षेत्र के जीव, जातियों एवं वनस्पतियों की भिन्नता ही जैविक विविधता (Biodiversity) है। जैविक विविधता का संज्ञान हमें क्षेत्र या पारिस्थितिक तन्त्र (Ecosystem) में रहने वाली जातियों या जैविक समुदाय से होता है। इस प्रकार समस्त जीवधारियों की जीनमूलक विभिन्नता जैविक विविधता के अन्तर्गत समाहित है। सम्पूर्ण पृथ्वी पर मानव के साथ-साथ अनेक जीव-जन्तु एवं वनस्पतियों का वास है। जैविक विविधता के इन घटकों में पारस्परिक क्रियाशीलता न हो तो दोनों पक्ष अजैविक और जैविक एक-दूसरे के लिए अर्थशून्य (Meaningless) हो जायेंगे। प्रकृति ने इस प्रकार की संरचना की है कि यदि सभी जैविक तत्त्व अपनी आवश्यकतानुसार अजैविक (भौतिक) तत्त्वों का उपभोग करते रहें तो पर्यावरणीय व्यवस्था में संतुलन बना रहता है।

यदि हम आदिकाल पर दृष्टिपात करते हैं तो देखते हैं कि मानव की आवश्यकताएँ एवं आकांक्षाएँ उनकी अनिवार्यता के अनुरूप थीं, फलतः प्रकृति संतुलित रही, पर्यावरण प्रदूषित नहीं हुआ और न ही पर्यावरण की समस्या उत्पन्न हुई। लेकिन जैसे-जैसे मानव का विकास हुआ उसकी आवश्यकताएँ बढ़ीं और उसने प्रकृति के साथ छेड़-छाड़ शुरू कर दी, परिणामतः पर्यावरण की समस्याएँ उत्पन्न होने लगीं। यह सत्य है कि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मानव विविध जैविक तत्त्वों का उपयोग करता चला आ रहा है। इमारती लकड़ी, फर्नीचर्स निर्माण, दियासलाई उद्योग, नाव, जलपोत आदि में काष्ठ का उपयोग तथा कन्द-मूल, फल, पत्तियों आदि का अनेक घरेलू एवं औद्योगिक कार्यों में उपयोग यह सिद्ध करता है कि मानव प्राचीन काल से वनों से अपना भरण-पोषण करता चला आ रहा है। वनों के प्रति मानव का

* वरिष्ठ प्राध्यापक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, आई०टी०आई० मार्ग, करौंदी, वाराणसी

इतना आकर्षण बढ़ा कि उसने वनों का उन्मूलन शुरू कर दिया, कृषि कला के विकास के साथ-साथ बहुमंजिली इमारतों के निर्माण ने वनों का शोषण करना प्रारम्भ कर दिया। शोषण इतना बढ़ा कि उसने व्यापार का रूप धारण कर लिया। इतना ही नहीं मानव वनों और वनस्पतियों के साथ-साथ पशु-पक्षियों, कीट-पतंगों का भी उपयोग करने लगा। जिसे चाहा उसे दोस्त बनाया, जिसे चाहा उसे रसलोलुपता का शिकार बनाया। इस प्रकार मानव ने भोजन, वस्त्र, गृह, परिवहन आदि के क्षेत्र में जैव-विविधता का प्रयोग किया। फलतः उसके हास ने मानव के लिए संकट उत्पन्न कर दिया। जैविक विविधता के हास में पर्यावरण की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। पर्यावरण में परिवर्तन के साथ अनेक जैव जातियाँ विलुप्त हो गई हैं। वैज्ञानिकों का ऐसा मानना है कि मानवीय गतिविधियों से सन् १६०० से अब तक लगभग ५३३ जन्तु एवं ३८४ पादप जातियाँ विलुप्त हो चुकी हैं और यही क्रम रहा तो शेष प्रजातियाँ भी विलुप्त होने में ज्यादा समय नहीं लगेगा। वैज्ञानिकों का यह भी मानना है कि यदि यही क्रम रहा तो आगामी २० से ३० वर्षों में वनस्पतियों एवं जीवों की दस लाख से अधिक जातियाँ धरती से विलुप्त हो जायेंगी।

यदि वनस्पतियों के उपयोग को हम व्यावहारिक स्तर पर देखें तो पेड़ मनुष्यों द्वारा दूषित व निष्काषित वायु कार्बन डाई-ऑक्साइड आदि गैसों को आहार रूप में ग्रहण कर ऑक्सीजन के रूप में उसे छोड़ता है, इसके अतिरिक्त उसकी जड़ें भूमि-क्षरण को रोकती हैं, वायु की गति में अवरोध पैदा करके उन्हें बरसने पर मजबूर करती हैं। लेकिन मनुष्य जिसे विवेकशील प्राणी कहा जाता है अपने विवेक का दुरुपयोग करता है। मानव ही एक ऐसा प्राणी है जो जानते हुए भी स्वार्थवश अपने हितैषी को भी नहीं छोड़ता है।

हमारी चिकित्सा पद्धति में ७५% से अधिक औषधियाँ वृक्षों, वनस्पतियों के आधार पर बनती हैं। लेकिन आज विकास के नाम पर वन-सम्पदा का जो दोहन किया जा रहा है उसने एक विभीषिका का रूप धारण कर लिया है। यदि इसे अभी नहीं रोका गया तो विश्व को सर्वनाश की कगार पर पहुँचने से कोई नहीं रोक सकता। अब प्रश्न उठता है कि पर्यावरण प्रदूषित होता कैसे है? इसका स्पष्ट उत्तर है हमारे दोषपूर्ण रहन-सहन से। वस्तुतः प्रकृति और मानव एक-दूसरे के पूरक हैं। एक-दूसरे के अभाव में किसी की भी कल्पना नहीं की जा सकती है। मानव का कोई भी पक्ष पर्यावरण से पृथक् करके नहीं देखा जा सकता है। हाँ, थोड़ी देर के लिए मानव के बिना पर्यावरण की कल्पना की जा सकती है।

वनस्पतियाँ भारतवर्ष की अमूल्य निधि हैं। ऐसी मान्यता है कि भारतवर्ष में वनस्पतियों की ४७००० प्रजातियाँ हैं। मानव अस्तित्व की रक्षा के लिए प्राणवायु, जलवायु तथा पर्यावरण संतुलन और आर्थिक समृद्धि में वनस्पतियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वनस्पतिकायिक जीव की हिंसा का दुष्परिणाम ही है कि आज भूमि क्षरण तथा भूस्खलन और ऑक्सीजन नष्ट हो रहा है। औषधीय जड़ी-बूटियों, कन्द-मूल, फल, अर्जुन की छाल, सर्पगन्धा, अश्वगन्धा आदि अनेक पदार्थों को संग्रहीत कर उसका व्यवसाय हो रहा है। वस्तुओं का व्यवसायीकरण हो जाने के कारण वन्य वस्तुओं के मूलस्रोत वन्य वनस्पतियाँ निरन्तर कम होती जा रही हैं। कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रो० टी० एम० दास के अनुसार ५० वर्ष का एक वृक्ष अपने सम्पूर्ण जीवन काल में १५.७० लाख का परोक्ष/अपरोक्ष लाभ मानव जीवन को देता है। उनके अनुसार-

१. कुल उत्पादित ऑक्सीजन का मूल्य २.५० लाख रुपये।
२. वायु के परिष्करण का मूल्य ५.०० लाख रुपये।
३. जल के अवशोषण एवं नियंत्रण का मूल्य ३.०० लाख रुपये।
४. मिट्टी के परिरक्षण का मूल्य २.५० लाख रुपये।
५. पशु-पक्षियों के संरक्षण का मूल्य २.५० लाख रुपये।
६. प्रभुजिन (प्रोटीन का रूपांतर) का मूल्य ०.२० लाख रुपये।

जैव-विविधता संरक्षण के सन्दर्भ में भारतवर्ष में विलुप्तप्राय बाघों के लिए सन् १९७३ में 'प्रोजेक्ट टाइगर' नाम से प्रथम योजना बनी तथा जैव-विविधता संरक्षण के लिए पूरे देश में १३ जीवमंडल आरक्षित क्षेत्रों (१. नन्दा देवी, २. नोकरेक, ३. मनास, ४. डिबू सिकोवा, ५. डिहंग-डिबंग, ६. सुन्दरवन, ७. गल्फ ऑव मनार, ८. नीलगिरि, ९. ग्रेट निकोबार, १०. हिमिलीपल, ११. खांडचेंड-जोंग (कंचनजंघा), १२. पंचमढ़ी तथा १३. अगस्थ्यामलाई) की स्थापना की गई। लेकिन ऐसा नहीं है कि प्राचीन काल में इस सन्दर्भ में कोई विचार न किया गया हो, बल्कि प्राचीन काल से ही हमारे मनीषियों ने जैव-संरक्षण को महत्त्व प्रदान किया है। यदि हम वैदिक ग्रन्थों को देखें तो वहाँ वन-देवता, वन-देवी आदि के आख्यान यत्र-तत्र दिखाई पड़ते हैं। इसी प्रकार जैन एवं बौद्ध ग्रन्थों में भी पर्यावरण संरक्षण की चर्चाएँ मिलती हैं जिससे यह प्रमाणित होता है कि हमारी भारतीय संस्कृति में वन सम्पदा के रख-रखाव और संरक्षण के प्रति प्रारम्भ से ही विशेष चेतना विद्यमान रही है। शास्त्रों में जैव-संरक्षण-चेतना का विवरण भी हमें मिलता है।

समस्त जीव, वनस्पति जगत् और मनुष्य जीवन में परस्पर सामञ्जस्य प्राचीन भारत के ऋषि तपोवन में मिलता है। वनस्पति और मानव जीवन का इतना गहरा सम्बन्ध है कि वृक्षों और लताओं को देव तुल्य माना गया है। पृथ्वी की प्रार्थना करते हुए कहा गया है- हे पृथ्वी माता! तुम्हारे वन हमें आनन्द और उत्साह से भर दें। अथर्ववेद^२ में वर्णन आया है कि ऋषियों को जब कभी वृक्षारोपण करना पड़ता था तो वे क्षमायाचना करते हुए कहते थे-

यत्ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु।

मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम्।

मनुस्मृति में भी हरे पेड़ और सूखे पेड़ में अन्तर बताते हुए हरे पेड़ को काटना निषिद्ध बताया गया है। दोनों में उतना ही अन्तर है जितना जीवित शरीर और मृत शरीर में अन्तर है। इसलिए ईंधन आदि के लिए हरे-भरे वृक्ष को काटने को पाप कहा गया है तथा इस पाप के प्रायश्चित्त स्वरूप सावित्री आदि सौ ऋचाओं का जप करना चाहिए।^३

ऋषि-मुनि वृक्षों को अपने सुख-दुःख का साथी मानते थे और उनका अभिवादन करते थे। यात्रा पर जाने से पूर्व उनसे विदा लेते थे। रामायण में वर्णन आया है कि जनकपुरी से मिथिला की ओर प्रस्थान करते समय ऋषि विश्वामित्र वन-देवताओं अर्थात् सिद्धाश्रम के पेड़ों से कहते हैं- आपका कल्याण हो अब मैं चलता हूँ। यज्ञकार्य सम्पन्न कर सिद्धाश्रम से जा रहा हूँ। गंगा के उत्तरी तट पर चलता हुआ मैं हिमालय की उपत्यका में जाऊँगा।^४

महर्षि वाल्मीकि ने मानव का प्रकृति के प्रति लगाव को बड़ी ही सुन्दरता से व्याख्यायित किया है। रामायण का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि वृक्ष और मानव दोनों ही एक-दूसरे के सहचर थे और एक-दूसरे का सम्मान पाते थे, कुछ उद्धरण इस प्रकार हैं-

‘भारद्वाज आश्रम का वर्णन करते हुए महर्षि वाल्मीकि ने कहा है, भारद्वाज मुनि के तेज के प्रभाव से बेल के वृक्ष मृदंग बजाते थे, बहेड़े के पेड़ ताल देते थे और पीपल नृत्य करते थे। देवदारु, ताल, तिलक और तमाल नाम वाले वृक्ष कुबड़ों और बौनों की भूमिका निभाते थे।’

‘राम, लक्ष्मण और सीता को चित्रकूट का रास्ता दिखाते हुए भारद्वाज मुनि ने श्यामवट नाम के एक ऐसे बरगद वृक्ष का उल्लेख किया है जो सदैव हरा-भरा और

घनी छाया वाला बना रहता है। यहाँ मुनिवर सीताजी से आग्रह करते हैं कि आप हाथ जोड़कर इस वृक्ष से आशीर्वाद की याचना करें। इसके बाद आप चाहें तो इसकी छाया में ठहर जाएं या आगे बढ़ जाएं।^५

ऐसा नहीं है कि संवेदनशील केवल मानव ही है। महर्षि ने वृक्ष को भी संवेदनशील दिखाया है। राम, वनवास की पहली रात को वृक्षों के हिलने और पक्षियों की चहचहाहट को सुनकर लक्ष्मण से कहते हैं- लक्ष्मण हमारे वनवास की यह पहली रात है, अतः अब तुम्हें नगर के लिए उत्कण्ठित नहीं होना चाहिए। इन सूने वनों को तो देखो। यहाँ नाना प्रकार के पशु-पक्षी अपनी-अपनी बोली बोल रहे हैं। यह सारी वनस्थली इनके स्वरो से व्याप्त हो रही है। ऐसा लगता है पूरा वनप्रदेश ही रो रहा है।^६

इसी प्रकार राम के वनवास जाते समय याज्ञिक ब्राह्मण कहते हैं- भगवन् हमने जो यज्ञ आरम्भ कर रखा है वह तो आपके लौट चलने पर ही सम्पन्न होगा, अतः आप लौट चलें। देखिए न इन वृक्षों की दीन-हीन दशा को। जड़ों द्वारा जकड़े होने के कारण ये आपके पीछे-पीछे तो नहीं आ सकते, परन्तु वायु के वेग से इनमें जो सायं-सायं का शब्द हो रहा है उसके द्वारा मानों ये आपसे लौटने का निवेदन कर रहे हैं।^७

इस प्रकार के अनेकों उद्धरण रामायण में भरे पड़े हैं जो मानव और प्रकृति के अटूट रिश्ते को दर्शाते हैं। फिर वृक्षों के साथ बैर कैसा? निरीक्षण बताते हैं कि स्वतंत्रता के बाद देश में लगभग ४० लाख हैक्टेयर भूमि से वनों का क्षरण हो गया है। हमारे वन क्षेत्र लगभग ३.८% रह गये हैं। फलतः हमारी सामाजिक, आर्थिक और भौगोलिक परिस्थितियाँ प्रभावित हुई हैं। जैसा कि हम सब जानते हैं कि वृक्ष/वन मिट्टी के बहाव को रोकने, रेगिस्तान को न बढ़ने देने, गिरते हुए जल स्तर को रोकने तथा पर्यावरण को शुद्ध एवं स्वस्थ बनाने का कार्य करते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि वन और मानव जीवन में गहरा सम्बन्ध है।

जैन धर्म में भी जैव-विविधता के संरक्षण पर गहराई से विचार किया गया है। भगवान् महावीर ने कहा है- जो लोग नाना प्रकार के शस्त्रों से वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा करते हैं, वे उसके आश्रित नाना प्रकार के जीवों की भी हिंसा करते हैं।^८ जैन धर्म में वृक्षों को काटकर उनसे आजीविका करना (वणकम्मे), लकड़ी काटकर कोयला बनाने का व्यवसाय करना (इंगालकम्मे) और वृक्ष को काट-छीलकर विभिन्न प्रकार की गाड़ियों को बनाने एवं बेचने के व्यवसाय (साड़ीकम्मे) का गृहस्थों के लिए निषेध किया गया है। इसके पीछे जैन चिन्तकों की मानव परिवेश में वनों की महत्ता परिलक्षित

होती है। वनों की कमी मानव जीवन के लिए कितनी हानिकारक हो सकती है इसका बोध जैन मनीषियों को पूर्व में ही था, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता। 'वराङ्गचरित' में वनों, उद्यानों, वाटिकाओं तथा धर्मनाथ रचित 'धर्मशर्माभ्युदय' में नदी के तट^{१०} पर वृक्षारोपण करने को प्रेरित किया गया है। जैन मान्यतानुसार जिस प्रकार मानव शरीर जन्मता है उसी प्रकार वनस्पति भी जन्म लेती है और विकसित होती है। मानव की भाँति वनस्पति भी संगीत, प्रेम और सहानुभूति को स्वीकार करती है। शरीर के विकास के लिए जिस प्रकार अन्न की आवश्यकता होती है उसी प्रकार वनस्पति को भी पानी, खाद, सूर्य की किरण आदि की आवश्यकता होती है। शरीर का कोई अंग जब कट जाता है तो वह सूख जाता है उसी प्रकार वनस्पति भी कटने के बाद सूख जाती है। शरीर सचिन्त है तो वनस्पति भी सचिन्त है, शरीर नश्वर है तो वनस्पति भी नश्वर है।^{११} मनुष्य और वनस्पति के बीच समानता बताते हुए 'आचारांगसूत्र' में कहा गया है कि मनुष्य जन्मता है, वनस्पति जन्मती है। मनुष्य बढ़ता है, वनस्पति बढ़ती है। मनुष्य चैतन्ययुक्त है, वनस्पति चैतन्ययुक्त है। मनुष्य छिन्न होने से क्लान्त होता है, वनस्पति भी छिन्न होने से क्लान्त होती है। मनुष्य भी अनित्य है और वनस्पति भी अनित्य है। मनुष्य उपचित होता है, वनस्पति भी उपचित होती है। मनुष्य विविध अवस्थाओं को प्राप्त होता है, वनस्पति भी विविध अवस्थाओं को प्राप्त होती है।^{१२} अतः जैन परम्परा का पर्यावरण विज्ञान यह मौलिक सूत्र प्रस्तुत करता है कि विश्व में केवल मेरा ही अस्तित्व नहीं है, बल्कि अन्यो का भी अस्तित्व है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परम्परा में पर्यावरण संरक्षण को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। परन्तु इस संरक्षण के पीछे मन, वचन और काय की एकरूपता सन्निहित है। हमारी इच्छाएँ-कामनाएँ और लालसाएँ असीम हैं तथा वस्तुएँ सीमित हैं, तो क्या सीमित से असीमित इच्छा की पूर्ति की जा सकती है? नहीं! वैचारिक रूप में ऐसा जरूर कर सकते हैं लेकिन प्रायोगिक रूप में नहीं। जीवन की यथार्थता प्रायोगिकता में है न कि वैचारिकता में। अतः पर्यावरण संतुलन के लिए हमें अपनी जीवन शैली में परिवर्तन करना होगा, संयम की ओर अग्रसर होना होगा। 'समवायांगसूत्र' में सत्रह प्रकार के संयम बताए गए हैं- पृथ्वीकाय संयम, अप्काय संयम, तेजस्काय संयम, वायुकाय संयम, वनस्पतिकाय संयम, द्वीन्द्रिय जीव संयम, त्रीन्द्रिय जीव संयम, अजीवकाय संयम, प्रेक्षा संयम, उपेक्षा संयम, अपहृत्य संयम, वचन संयम और काय संयम।^{१३} भगवान महावीर ने पर्यावरण की क्रियान्विति का मार्ग प्रस्तुत करते हुए कहा है कि जिन जीवों की हिंसा के बिना तुम्हारी जीवन-यात्रा चल

सकती है, उनकी हिंसा मत करो। जीवन-यात्रा के लिए जिनका उपयोग अनिवार्य है, उनकी भी अनावश्यक हिंसा मत करो।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि मानव और वनस्पति का सम्बन्ध अत्यन्त ही संवेदनशील है। लेकिन इस संवेदनशील रिश्ते के नेपथ्य में आध्यात्मिक दृष्टिकोण प्रेरित है। तभी तो तुलसी, बड़, पीपल, केला आदि के पेड़ों की आज भी पूजा होती है और उन्हें जल अर्पण किया जाता है। वृक्षों की पूजा के पीछे भाव यही रहा है कि हम अपने घरों के आँगन में तथा घरों के बाहर अधिक से अधिक पेड़-पौधे, फल-फूल केवल लगाएँ ही नहीं बल्कि उनकी परवरिश भी करें, उनकी सुरक्षा करें जिससे सम्पूर्ण वातावरण को सुगन्धित, शुद्ध और स्वास्थ्यवर्द्धक बनाया जा सके। वर्ड्सवर्थ ने कहा था- 'प्रकृति की ओर चलें।' वर्ड्सवर्थ की यह उक्ति उस समय जितनी प्रासंगिक नहीं रही होगी उससे कहीं ज्यादा प्रासंगिक आज है। आइए हम सब एक हरे-भरे समाज का निर्माण करें। यदि हमें स्वस्थ जीवन जीना है तो वृक्षों को अपना मित्र बनाना होगा।

सन्दर्भ :

१. अस्थाना, मधु, पर्यावरण : एक संक्षिप्त अध्ययन, प्रका०- मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, प्रथम संस्करण, २००८, पृ०- ७५
२. अथर्ववेद, १२/१/३५
३. फलदानां तु वृक्षाणां छेदने जप्यमृक्छतम् ।
गुल्मवल्लीलतानां च पुष्पितानां च वीरुधाम् । मनुस्मृति, ११/१४३
४. एवमुक्त्या मुनिवरः प्रस्थानमकरोत्तदा।
सर्षिसङ्घः सककुत्स्थ आमन्त्र्य वनदेवताः।
स्वस्ति वोऽस्तु गमिष्यामि सिद्धः सिद्धाश्रममनुत्तमम् ।
उत्तरे जाह्नवीतीरे हिमवन्तं शिलोच्चयम् । श्रीमद्वाल्मीकि रामायण
(बालकाण्ड), ३१.१४-१५
५. परीतं बहुभिर्वृक्षैः श्यामं सिद्धोपसेवितम् ।
तस्मै सीताञ्जलिं कृत्वा प्रयुञ्जीताशिषः शिवाः।
समासाद्य तु तं वृक्षं वसेद्वातिक्रमेत वा।
क्रोशमात्रं ततो गत्वा नीलं द्रक्ष्यथ काननम् । वही, (अयोध्याकाण्ड), ५५,
६-७

८ : श्रमण, वर्ष ५९, अंक ४/अक्टूबर-दिसम्बर २००८

६. इयमद्य निशास पूर्वा सौमित्र प्रहिता वनम् ।
वनवानस्य भद्रं ते स नोकण्ठितुमर्हसि ॥
पश्य शून्यान्यरण्यानि रुदन्तीव समन्ततः ।
यथा निलयमायद्धिर्निलीनानि मृगद्विजैः ॥ वही, (अयोध्याकाण्ड), ४६.३
७. बहूना वितता यज्ञा द्विजानां य इहागताः ।
तेषां समाप्तिरायत्ता तव वत्स निवर्तने ॥
भक्तिमन्ति हि भूतानि जङ्गमाजङ्गमानि च ।
याचमानेषु राम त्वं भक्तिं भक्तेषु दशेये । वही, (अयोध्याकाण्ड) ४५,
२८-२९
८. आचारांगसूत्र, १/१/५/४४
९. वराङ्गचरित, २२/६९-७२
१०. धर्मशर्माभ्युदय, १/४९, पं० पन्नलाल जैन साहित्याचार्य, पृ०-११
११. आचारांगसूत्र, उ०-५, गाथा-४५
१२. समवायांगसूत्र, समवाय-१७

*

देहात्मवाद

डॉ० विजय कुमार*

देहात्मवाद का विवेचन भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों ही दर्शनों में देखने को मिलता है। बहुत कम ही ऐसे दार्शनिक होंगे जिन्होंने देह और आत्मा के सम्बन्धों पर विचार न किया हो। चाहे वैदिक, जैन और बौद्ध परम्पराएँ हों या पाश्चात्य बुद्धिवादी दार्शनिक। सभी ने किसी न किसी रूप में देह और आत्मा के सम्बन्धों पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। भारतीय सन्दर्भ में जो व्याख्या मिलती है उसमें 'देह ही आत्मा है' केन्द्रित है जबकि पाश्चात्य चिन्तन में 'देह और आत्मा के सम्बन्ध' को केन्द्रित किया गया है।

देहात्म की समस्या के सन्दर्भ में जो प्रायः प्रश्न उठाये जाते हैं वे हैं- देह और आत्मा का सम्बन्ध क्या है, क्या आत्मा भिन्न है और देह भिन्न है अथवा आत्मा वही है जो देह है?

इस सम्बन्ध में भारतीय सन्दर्भ में तीन प्रकार के मत देखने को मिलते हैं-

१. पहला मत यह है कि देह और आत्मा अभिन्न हैं, अर्थात् देह ही आत्मा है। इसके अन्तर्गत लोकायत मत आता है।

२. दूसरा मत यह है कि देह और आत्मा दोनों अलग-अलग हैं। इस मत को माननेवालों में न्याय दर्शन तथा वेदान्ती आदि आते हैं।

३. तीसरा मत यह है कि देह और आत्मा अलग-अलग भी हैं और साथ-साथ भी हैं। इस मत का पोषण जैन दर्शन करता है।

चार्वाक दर्शन की यह स्पष्ट घोषणा है कि देह ही आत्मा है। 'मैं' शब्द से सम्बोधित होने वाला यह शरीर ही आत्मा है। 'मैं मोटा हूँ', 'मैं दुबला हूँ', 'मैं गौरा हूँ' आदि सम्बोधन शरीर के लिए ही किये जाते हैं। 'चार्वाक षष्टि' से भी इस कथन को समर्थन प्राप्त होता है। कहा गया है-

* प्राध्यापक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, आई०टी०आई० मार्ग, करौंदी, वाराणसी

अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति सामान्याधिकरण्यतः।

देहः स्थौल्यादि योगाच्च स एवात्मा न चापरः।

मम देहोयमित्युक्तिः सम्भवेदौपचारिकी ॥ ४९ ॥^१

(अर्थात् मैं मोटा हूँ, मैं दुबला हूँ, इस प्रकार एक आधार होने के कारण तथा एक मोटाई आदि के संयोग होने के कारण देह आत्मा है, आत्मा कोई दूसरी नहीं है। यह मेरा शरीर इस प्रकार की युक्ति तो औपचारिक है।)

यह सत्य भी है, क्योंकि जब भी व्यक्ति स्वयं के विषय में जानने, कुछ करने या भोगने का अनुभव करता है तो शरीर में ही करता है। साथ ही दूसरे व्यक्तियों को भी जब भी जानते, करते और भोगते देखता है, तो शरीर में ही देखता है। फिर कैसे कहा जा सकता है कि आत्मा शरीर से भिन्न है। चार्वाक का कहना है कि जिसे हम चेतना कहते हैं वह वस्तुतः चार भूतों के संयोग से उत्पन्न होती है। यद्यपि अलग-अलग भूतों में चेतना शक्ति नहीं होती, लेकिन उन भूत तत्त्वों के संयोग शक्ति से चेतना उत्पन्न हो जाती है, जो संयोग शक्ति की विलक्षणता ही कही जायेगी। जैसे गुड़ और पिष्टि आदि में मादकता की शक्ति नहीं होती है परन्तु उनके संयोग से निर्मित मदिरा में मादकता उत्पन्न हो जाती है। 'चार्वाक षष्टि' में कहा गया है-

अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्युनलानिलाः ।

चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ।

किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत् ॥ ४८ ॥^२

अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु ये चार तत्त्व हैं। निश्चय ही इन्हीं चार तत्त्वों के संयोग से चैतन्य की उत्पत्ति होती है, जैसे किण्व (मदिरा के निर्माण में खमीर उठाने वाला बीज) आदि द्रव्य से मादकता उत्पन्न होती है। आकाश को चार्वाक तत्त्व रूप में स्वीकार नहीं करता है, क्योंकि उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है। अतः पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु- इन्हीं चारों तत्त्वों के शरीर रूप में परिवर्तन होने पर परिणाम विशेष के स्वभाव से चैतन्य की उत्पत्ति होती है। शरीर के नष्ट होने पर चैतन्य भी नष्ट हो जाता है। तात्पर्य है ऐसी कोई सत्ता नहीं है जिसे शरीर से अलग माना जाए या जिसके कारण शरीर चेतन हो जाता है। जो लोग प्राण, चेष्टा, चेतनता, स्मृति आदि को अलग आत्मा का धर्म मानते हैं, वे भी तो इसे देह में ही स्वीकार करते हैं। इनको देह से अलग आत्मा का धर्म मानने के लिए ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता है जो इसे प्रामाणित कर सके। अतः आत्मा देह का ही नाम है। यदि हम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से

देखें तो वहाँ भी यह मान्यता है कि मन की जितनी अवस्थायें हैं उन सब के साथ-साथ किसी न किसी प्रकार की शारीरिक क्रिया अवश्य होती है। चाहे उनसे हमारे शरीर के अंगों में इच्छित परिवर्तन न हो तो भी प्राण की गति, रक्त-संचालन, सामान्य संचालन, सामान्य पुट्टों के संकोचन प्रसारण, ग्रन्थियों इत्यादि के कार्यों में कुछ न कुछ तब्दीली अवश्य होती है।^३ जितने भी मानसिक व्यापार हैं उनका कारण मस्तिष्क की अवस्थाएं ही हैं। क्योंकि ऐसा देखा जाता है कि जब मस्तिष्क में परिवर्तन होता है तो मन में भी परिवर्तन हो जाता है। जैसे नशे की वस्तु खा लेने पर या अधिक ज्वर हो जाने पर। पागलपन की अवस्था में भी मानसिक परिवर्तन देखा जाता है। चूँकि मस्तिष्क शरीर का ही एक अंग है अतः यह मानना पड़ता है कि चेतनता शरीर का ही गुण है। अतः आत्मा शरीर से अलग नहीं है।

न्याय दर्शन जो देह और आत्मा को अलग-अलग मानता है, का कहना है कि जिस चीज को हम आँख से देखते हैं उसी को हाथ से छूते हैं। जैसे आँख ने कलम को देखा, फिर हाथ ने छूकर मालूम किया तब हमको यह ज्ञान हुआ कि आँख से देखी हुई वस्तु और हाथ से छुई हुई वस्तु दोनों एक ही हैं।^४ आँख से प्राप्त कलम का ज्ञान और हाथ से प्राप्त कलम के ज्ञान में जो साधन रूप हैं, उन्हें जो काम में ला रही है, वह आँख और हाथ से अवश्य भिन्न है और वही आत्मा है। यहाँ कोई कह सकता है कि विषयों की व्यवस्था ही ऐसी है कि आँख रूप को देखे और हाथ कठोरता को छूये। यदि इन इन्द्रियों से अलग आत्मा नाम की कोई चीज होती तो विषयों की अलग-अलग व्यवस्था करने की क्या आवश्यकता थी। फिर तो हम आँख से खट्टापन चखते और जीभ से देखते। न्याय दर्शन कहता है कि अलग-अलग इन्द्रियों अलग-अलग विषयों को ग्रहण करती हैं, यही व्यवस्था तो आत्मा की सत्ता को प्रमाणित करती है। ऐसा भ्रम इसलिए होता है कि हम नींबू में मात्र दो ही व्यापार को स्वीकार करते हैं - पीलेपन को देखने का और खट्टेपन को चखने का। जबकि उसमें तीन व्यापार होते हैं। एक पीलेपन को देखने का, दूसरा खट्टेपन को चखने का और तीसरा जिसे हम अनदेखा कर देते हैं वह है जो यह कहता है कि जिसमें हमने आँख से पीलापन देखा उसी में खट्टापन भी चखा। यही कहनेवाला आत्मा है। यह भावना न तो आँख की है और न ही जीभ की।

'एक आत्मनः शरीरे भावात्', पर भाष्य करते हुए आचार्य शंकर ने कहा है कि चूँकि देह के साथ ही ज्ञान आदि व्यापार देखे जाते हैं इसलिए लोग ऐसा मान लेते हैं कि यह देह का ही धर्म है। यदि ऐसा है तो फिर देह होते हुए भी ज्ञान का अभाव क्यों देखा जाता है? क्यों नहीं माना जाता कि ज्ञान शरीर का धर्म नहीं है।^५ मरने

पर शरीर तो रहता है लेकिन उसमें प्राण आदि की चेष्टायें नहीं होती हैं।^६ जबकि रूप आदि जो शरीर के धर्म हैं वे रहते हैं। स्मृति आदि जो शरीर के धर्म नहीं हैं मरने के उपरान्त नहीं रहते।^७ इस प्रकार शंकराचार्य आत्मा और देह की भिन्नता को मानते हुए कहते हैं कि यदि चेतनता शरीर का गुण होती तो शरीर में सदा पाई जाती इससे यह प्रमाणित होता है कि चेतनता शरीर का धर्म नहीं है। यदि कोई यह कहता है कि चेतनता या ज्ञान चार भूतों के मिलने से उत्पन्न हो जाता है, जैसे- शराब में नशा, तो प्रश्न होता है कि भूतादि क्या हैं? विषय या विषयी। जड़ कभी भी विषयी नहीं हो सकता। आग अपने को नहीं जलाया करती और न ही नट अपने ही कंधे पर चढ़ सकता है। रूप आदि स्वयं के रूप को या दूसरे के रूप को नहीं देख सकता, अतः देखने वाला और जानने वाला कोई और ही है^८ वह है आत्मा। जो यह कहते हैं कि स्मृति शरीर का धर्म है क्योंकि जब तक शरीर है तब तक स्मृति रहती है और जब शरीर समाप्त हो जाता है तो स्मृति भी समाप्त हो जाती है। यहाँ आचार्य शंकर कहते हैं कि ज्ञान में स्मृति और विस्मृति का विशेष स्थान होता है। लेकिन यह स्मृति और विस्मृति किसको होती है? क्या यह स्मृति आँख के पास रहती है या वह किसी को दे देती है। यदि यह मानते हैं कि वह आँख के पास ही रहती है तो दूसरे ज्ञान को प्राप्त करना असंभव हो जायेगा। क्योंकि वह ज्ञान सदैव आँख के सामने बना रहेगा। लेकिन देखा यह जाता है कि जब कोई वस्तु आँख के सामने से हट जाती है तो उसका ज्ञान भी धुँधला हो जाता है। मन्दिर में रहनेवाले पुजारी को मन्दिर का सौन्दर्य उतना स्पष्ट नहीं होता जितना पहली बार देखने वाले व्यक्ति को। इसका मतलब है कि हमारी इन्द्रियाँ प्राप्त ज्ञान को कहीं जमा करती हैं या प्रेषित कर देती हैं और वह स्थान है- आत्मा। यदि स्मृति आँख का धर्म होती तो हमारी बायीं आँख द्वारा देखी गई वस्तु दायीं आँख किसी भी कीमत पर नहीं पहचान सकती। जहाँ तक शरीर के रहने पर स्मृति के रहने और शरीर के न रहने पर उसकी अनुपस्थिति का प्रश्न है तो यह उसी प्रकार है जिस प्रकार दीपक के रहने पर वस्तु दिखाई देती है और न रहने पर वस्तु दिखाई नहीं देती।^९ इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वस्तु देखने वाला दीपक है बल्कि वह तो एक उपकरण मात्र है। ठीक इसी प्रकार शरीर के रहने पर स्मृति रहती है और शरीर के न रहने पर स्मृति नहीं रहती। शरीर तो एक उपकरण मात्र है। वस्तुतः स्मृति तो आत्मा को होती है।

अब प्रश्न उठता है कि हम आत्मा और शरीर को एक माने या अलग-अलग। यदि हम आत्मा और शरीर को एक-दूसरे से अलग मानते हैं तो शरीर-धर्म जैसे भूख, प्यास, मैथुन, निद्रा आदि का सम्बन्ध नैतिकता से नहीं रहेगा और न ही हिंसा-

व्यभिचार आदि अनैतिक कर्म होंगे। साथ ही समस्त शारीरिक कर्मों की शुभता-अशुभता के लिए आत्मा को उत्तरदायी नहीं माना जा सकता है। कायकृत कर्मों का फल उसे नहीं मिलना चाहिए। यह न्यायसंगत नहीं होगा कि इस जन्म के शरीर द्वारा किये गये कर्मों का फल दूसरे जन्म का शरीर भोगे। ऐसी स्थिति में अकृतागम का दोष होगा। यदि हम आत्मा और शरीर दोनों को एक ही मानते हैं तो शरीर के विनाश के साथ आत्मा का भी विनाश हो जायेगा और शुभाशुभ कर्मों का प्रतिफल अभोग्य रह जायेगा। इस तरह कृतप्रणाश के दोष से वंचित नहीं रहा जा सकता।

गीता की दृष्टि से अगर इन समस्याओं का समाधान ढूँढने का प्रयास करें तो वहाँ शरीर नष्ट होता है आत्मा नष्ट नहीं होती है। जैसे व्यक्ति वस्त्रों को जीर्ण होने पर बदल देता है वैसे यह आत्मा भी जीर्ण शरीरों को बदल देती है।^{१०} साथ ही शरीर को क्षेत्र और आत्मा को क्षेत्रज्ञ मानते हुए^{११} यह भी कहा गया है कि हमारा वर्तमान व्यक्तित्व क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ या शरीर और आत्मा के संयोग से उत्पन्न हुआ है।^{१२}

जैन दृष्टिकोण से विचार करते हैं तो वहाँ आत्मा और शरीर को भिन्न तथा अभिन्न दोनों माना गया है। राजप्रश्नीयसूत्र में देहात्मवाद के पूर्व पक्ष को और उनका खण्डन करने वाले उत्तर पक्ष को राजा पएसी और श्रमण केशीकुमार के बीच संवाद रूप में प्रस्तुत किया गया है जो निम्न रूप है—

राजा पएसी श्रमण केशीकुमार के सामने प्रश्न उपस्थित करते हैं कि हे श्रमण ! मेरे दादा अत्यन्त अधार्मिक थे। आपके कथनानुसार वे अवश्य ही नरक में उत्पन्न हुए होंगे। मैं अपने पितामह को इष्ट, कान्त यानी अभिलषित, प्रिय, मनोज्ञ, मणाम (अतीव प्रिय), धैर्य और विश्वासपात्र था, अतः मेरे पितामह को आकर मुझसे यह कहना चाहिए कि हे पौत्र ! मैं तुम्हारा पितामह इसी श्वेताम्बिका नगरी में अधार्मिक कृत्य करता था यावत् प्रजाजनों से राजकर लेकर भी यथोचित रूप में उनका पालन व रक्षण नहीं करता था। इस कारण बहुत एवं अतीव कलुषित पापकर्मों का संचय करके मैं नरक में उत्पन्न हुआ हूँ। किन्तु हे पौत्र ! तुम अधार्मिक मत होना, प्रजाजनों से कर लेकर उनके पालन-रक्षण में प्रमाद मत करना और न बहुत से मलिन पाप कर्मों का उपार्जन-संचय ही करना।^{१३}

देहात्मवादियों के इस तर्क के प्रत्युत्तर में केशीकुमार श्रमण ने कहा— हे राजन् ! जिस प्रकार तुम अपने अपराधी को इसलिए नहीं छोड़ देते हो कि वह जाकर अपने पुत्र-मित्र और ज्ञातजनों को यह बताये कि मैं पापी हूँ और अपने पाप के कारण दण्ड भोग रहा हूँ, तुम ऐसा मत करना। इसी प्रकार नरक में उत्पन्न तुम्हारे पितामह तुम्हें प्रतिबोध देने के

लिए आना चाहकर भी यहाँ आने में समर्थ नहीं हैं। क्योंकि नारकीय जीव चार कारणों से मनुष्य लोक में नहीं आ सकते। सर्वप्रथम तो उनमें नरक से निकल कर मनुष्य लोक में आने की सामर्थ्य ही नहीं होती। दूसरे नरकपाल उन्हें नरक से बाहर निकलने की अनुमति नहीं देते। तीसरे नरक सम्बन्धी असातावेदनीय कर्म के क्षय नहीं होने से वे वहाँ से नहीं निकल पाते। चौथे उनका नरक सम्बन्धी आयुष्य कर्म जब तक क्षीण नहीं होता तब तक वे वहाँ से नहीं आ सकते। अतः तुम्हारे पितामह के द्वारा तुम्हें आकर प्रतिबोध न दे पाने के कारण यह मान्यता मत रखो कि जीव और शरीर एक ही हैं, अपितु यह मान्यता रखो कि जीव अन्य है और शरीर अन्य है।^{१४} केशिकुमार श्रमण के इस प्रत्युत्तर को सुनकर राजा ने दूसरा तर्क किया।

हे श्रमण! मेरी दादी अत्यन्त धार्मिक थीं। आप लोगों के मत के अनुसार वह निश्चित ही स्वर्ग में उत्पन्न हुई होंगी। मैं अपनी दादी का अत्यन्त प्रिय व मनोज्ञ था, अतः उन्हें तो मुझे आकर यह बताना चाहिए कि, हे पौत्र! अपने पुण्य कर्मों के कारण मैं स्वर्ग में उत्पन्न हुई हूँ। तुम भी मेरे समान धार्मिक जीवन बिताओ, जिससे तुम भी विपुल पुण्य का उपार्जन कर स्वर्ग में उत्पन्न होओ। क्योंकि मेरी दादी ने स्वर्ग से आकर मुझे ऐसा प्रतिबोध नहीं दिया, अतः मैं यही मानता हूँ कि जीवन और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं।^{१५}

राजा के इस तर्क के प्रत्युत्तर में केशिकुमार श्रमण ने निम्न तर्क प्रस्तुत किया— हे राजन्! यदि तुम स्नान, बलिकर्म और कौतुकमंगल करके देवकुल में प्रविष्ट हो रहे हो, उस समय कोई पुरुष शौचालय में खड़ा होकर यह कहे कि, हे स्वामिन्! यहाँ आओ! कुछ समय के लिए यहाँ बैठो तो क्या तुम उस पुरुष की बात को स्वीकार करोगे? नहीं! क्योंकि निश्चय ही तुम उस अपवित्र स्थान पर जाना नहीं चाहोगे।^{१६} इसी प्रकार हे राजन्! देवलोक में उत्पन्न देव वहाँ के दिव्य काम भागों में इतने मूर्च्छित और तल्लीन हो जाते हैं कि वे मनुष्य लोक में आने की इच्छा नहीं करते। दूसरे देवलोक सम्बन्धी दिव्य भोगों में तल्लीन हो जाने के कारण उनका मनुष्य सम्बन्धी प्रेम व्युच्छिन्न हो जाता है, अतः वे मनुष्य लोक में नहीं आ पाते। पुनः मनुष्य लोक इतना दुर्गन्धित और अनिष्टकर है कि उसकी दुर्गन्ध के कारण देव मनुष्य लोक में आना नहीं चाहते हैं। अतः तुम्हारी दादी के स्वर्ग से नहीं आने पर यह श्रद्धा रखना उचित नहीं है कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं।

अब राजा पएसी ने केशिकुमार श्रमण के समक्ष एक अन्य तर्क प्रस्तुत किया। राजा ने कहा कि मैंने एक चोर को जीवित ही लोहे की कुम्भी में बन्द करवा कर उसे अच्छी तरह से लाह से उसका मुख ढक दिया फिर उस पर गरम लोहे और रांगे से

लेप करा दिया तथा उसकी देख-रेख के लिए अपने विश्वासपात्र पुरुषों को रख दिया। कुछ दिन पश्चात् मैंने जब उस कुम्भी को खुलवाया तो वह मनुष्य मर चुका था किन्तु उस कुम्भी में कोई भी छिद्र या दरार नहीं थी जिससे उसमें बन्द पुरुष का जीव बाहर निकला हो।

इसी प्रकार मैंने एक पुरुष को प्राण रहित करके एक लौह कुम्भी में डाल दिया तथा ढक्कन से उसे बन्द करके उस पर रांगे का लेप करवा दिया कुछ समय पश्चात् जब उस कुम्भी को खोला गया तो उसका शरीर कृमिकुल से व्याप्त हो गया था, किन्तु उसमें कोई दरार या छिद्र नहीं था जिससे उसमें जीव प्रवेश करता। अतः जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं है।

राजा पएसी की इस शंका का समाधान करते हुए केशिकुमार ने कहा-

हे राजन! जिस प्रकार एक ऐसी कुटागारशाला जो अच्छी तरह से आच्छादित हो, उसका द्वार गुप्त हो यहाँ तक कि उसमें कुछ भी प्रवेश नहीं कर सके वैसेी कुटागारशाला में कोई व्यक्ति यदि जोर से भेरी बजाये तो तुम बताओ कि वह आवाज बाहर सुनायी देगी कि नहीं? निश्चय ही वह आवाज सुनायी देगी। अतः जिस प्रकार शब्द अप्रतिहत गतिवाला है उसी प्रकार आत्मा भी अप्रतिहत गतिवाली है अतः तुम यहाँ श्रद्धा करो कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न हैं।^{१०}

इसी तरह जिस प्रकार लोहे के गोले में छेद नहीं होने पर भी अग्नि उसमें प्रवेश कर जाती है, उसी प्रकार जीव भी अप्रतिहत गति वाला होने से कहीं भी प्रवेश कर जाता है।

राजा ने फिर एक अन्य तर्क प्रस्तुत किया और कहा कि मैंने एक चोर के शरीर के विभिन्न अंगों को काटकर, चीरकर देखा लेकिन मुझे कहीं भी जीव नहीं दिखाई दिया। अतः शरीर से पृथक् जीव की सत्ता सिद्ध नहीं होती। इसके प्रत्युत्तर में केशीकुमार ने कहा कि 'हे राजन्! जैसे जलती हुई लकड़ी के बुझ जाने पर लकड़ी को चीर कर आग पाने की इच्छा रखने वाला मनुष्य मूर्ख है, वैसे ही शरीर को चीर कर जीव देखने की इच्छा वाले तुम भी कुछ कम मूर्ख नहीं हो। जिस प्रकार अरणि के माध्यम से अग्नि अभिव्यक्त होती है उसी प्रकार आत्मा भी शरीर के माध्यम से अभिव्यक्त होती है, किन्तु शरीर को चीरकर उसे देखने की प्रक्रिया उसी प्रकार मूर्खतापूर्ण है जैसे अरणि को चीर-फाड़कर अग्नि को देखने की प्रक्रिया। अतः हे राजन्! यह श्रद्धा करो कि आत्मा अन्य है और शरीर अन्य है।'^{११}

जैन ग्रन्थ 'भगवतीसूत्र' में गौतम भगवान् महावीर से पूछते हैं- भगवन्! जीव वही है जो शरीर है या जीव भिन्न है या शरीर भिन्न है। गौतम के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए महावीर कहते हैं- हे गौतम! जीव शरीर भी है और शरीर से भिन्न भी है।^{१९} आचार्य कुन्दकुन्द ने भी यह माना है कि आत्मा और शरीर एक है लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से, नैश्चयिक दृष्टि से कदापि एक नहीं हैं।^{२०} यह सत्य भी है क्योंकि आत्मा और शरीर के एकत्व को स्वीकार किये बिना स्तुति, वंदन, सेवा आदि नैतिक क्रियाएँ असंभव हैं तथा आत्मा और देह की भिन्नता माने बिना आसक्तिनाश और भेदविज्ञान की संभावना नहीं हो सकती।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आत्मा और शरीर दोनों की सत्ता है और दोनों के संयोग का नाम ही व्यक्तित्व है। एक कथन है 'मैं खाता हूँ।' इस कथन के सन्दर्भ में पहला प्रश्न होता है कि कौन खाता है? क्या शरीर खाना खाता है, नहीं। क्योंकि यदि शरीर खाना खाता तो मृत शरीर को भी खाना खिलाया जा सकता। लेकिन ऐसा नहीं होता है। तब दूसरा प्रश्न उठता है कि क्या आत्मा है जो खाना खाती है, नहीं। एक चेतन पदार्थ, जड़ पदार्थ को कैसे खा सकती है। पीड़ा किसको होती है शरीर को या आत्मा को। यदि केवल शरीर ही होता तो पीड़ा नहीं होती और यदि शरीर भी होता और आत्मा भी होती लेकिन उनमें सम्बन्ध नहीं होता तो भी पीड़ा नहीं होती। अतः आत्मा और शरीर का सम्बन्ध है इसे नकारा नहीं जा सकता।

सन्दर्भ :

१. चार्वाक षष्टि, गगनदेव गिरि, ज्योति प्रकाशन, पटना, १९८०
२. वही
३. All mental states (no matter what their character as regards utility may be) are followed by bodily activity of some sort. They lead to inconspicuous changes in breathing, circulation, general muscular tension and glandular or other viceral activity, even if they do not lead to conspicuous movements of the muscles of the voluntary life. *Psychology*, p. 5
४. दर्शनस्पर्सनाभ्यामेकार्तग्रहनात्, न्यायदर्शनम् ३/१/१
५. यदि देहभावे भावाद् देहधर्मत्वमात्मधर्माणां मन्येत, ततो देहभावेऽप्य-भावादतद्धर्मत्वमेवैषां किं न मन्येत। ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य, अनुवाद-

- यतिवर श्री भोलेबाबा, प्रका०-भारतीय विद्या प्रकाशन, १८९८, ३/३/५४,
पृ०-२११२
६. प्राण चेष्टादयस्तु सत्यपि देहे मृतावस्थायां न भवन्ति । वही, पृ०-२११२-
२११३
७. देहधर्माश्च रूपादयः परैरप्युपलभयन्ते, न त्वात्मधर्माश्चैतन्यस्मृतादयः । वही,
पृ०- २११३
८. यदनुभवं भूतभौतिकानां तच्चैतन्यमिति चेत्, तर्हि विषयत्वात्तेषां न
तद्धर्मत्वमश्नुवीत; स्वात्मनि क्रिया विरोधात् । न ह्यग्निरुग्णः सन् स्वात्मानं
दहति, नहि नटः शिक्षितः सन् स्वस्कन्धमधिरोक्ष्यति । नहि भूतभौतिकधर्मेण
सता चैतन्येन भूतभौतिकानि विषयीक्रियेन् । वही, पृ०- २११४
९. अपि च सत्सु प्रदीपादिषूपकरणेषूपलब्धिर्भवति, असत्सु न भवति । वही,
पृ०-२११६
१०. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यानि संयाति नवानि देही ॥ श्रीमद्भगवद्गीता,
अपर्णा प्रकाशन, हरियाणा, २/२२.
११. इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ वही, १३/१.
१२. यावत् संजायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजंगमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ वही, १३/२६.
१३. अहं तव अज्जए होत्था, इहेव सेयवियाए नयरीए अधम्मिए जाव नो सम्मं
करभरवित्तिं पवत्तेमि, तए णं अहं सुबहुं पावं कम्मं कलिकलुसं समज्जिनित्ता
नरएसु उववण्णे, तं मा णं नत्तया ! तुमं पि भवाहि अधम्मिए जाव नो सम्मं
करभरवित्तिं पवत्तेहि, मा णं तुमं पि एवं चेव सुबहुं पावकम्मं जाव
उववज्जिहिसि । तं जइ णं से अज्जए ममं आगंतं वज्जा तो णं अहं सदहेज्जा,
पत्तिएज्जा, रोएज्जा जहा अत्रो जीवो अत्रं सरीरं । जम्हा णं अज्जए ममं
आगंतुं नो एवं वयासी तम्हा सुपइट्टिया मम पइन्ना समणाउसो ! जहा तज्जीवो
तं सरीरं । राजप्रश्नीयसूत्र, २४४, सम्पा०- युवाचार्य मधुकर मुनि, प्रका०-
आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९९२.

१८ : श्रमण, वर्ष ५९, अंक ४/अक्टूबर-दिसम्बर २००८

१४. वही, २४५.

१५. वही. २४६.

१६. तए णं केसी कुमारसमणे पएसीरां एवं वासी- जाति णं तुमं पएसी ! ण्हायं कयबलिकम्मं कयकोउयमंगलपायच्छित्तं उल्लपडसाडगं भिंगारकडुच्छुयहत्थगयं देवकुस्तमणुपविसमाणं केइ य पुरिसे वच्चघरिसि ठिच्चा एवं वदेच्चा- एह ताव सामी ! इह मुहुत्तगं आसयह वा, चिट्टह वा, निसीयह वा, तुयट्टह वा, तस्स नं तुमं पएसी ! पुरिसस्स खणमवि पडिसुणिज्जासि? वही, २४७.

१७. वही, २४९.

१८. वही, २५९.

१९. भगवतीसूत्र, १३/७/४९५, सम्पा०- युवाचार्य मधुकर मुनि, प्रका०- आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर ।

२०. समयसार, २७.



धुतंगनिद्देस में प्रयुक्त अर्थघटन के उपकरण

श्रीमती सरिता कुमारी*

डॉ० अविनाश कुमार श्रीवास्तव**

बौद्ध परम्परा की अतिविशिष्ट रचना 'विसुद्धिमग्गो' ज्ञान का एक स्रोत ही नहीं वरन् श्रुतार्थ पर्यालोचना का एक अप्रतिम ग्रन्थ भी है। इसे आधुनिक शब्दावली में अर्थघटन (Hermeneutic) विधा का शास्त्र भी कह सकते हैं। धुतंगनिद्देस विसुद्धिमग्ग के शील खण्ड का दूसरा परिच्छेद है जिसमें भगवान् बुद्ध द्वारा उपदेशित तेरह धुतंगों की विवेचना इसके अर्थ-निरूपण एवं पालन-विधि के आलोक में की गयी है। बुद्ध ने इन धुतंगों का प्रतिपादन विसुद्धिमग्ग की रचना के सैकड़ों वर्ष पूर्व ही किया था। कोई भी कालपुरुष जब किसी धर्म-दर्शन की स्थापना करता है तो वह अपने उपदेश, अपनी विवेचनाएँ, धर्मसूत्र, नैतिक नियम तथा दार्शनिक स्थापनाएँ काल विशेष, समस्या विशेष, परिप्रेक्ष्य विशेष आदि के आलोक में करता है। उसकी समस्याएँ दो प्रकार की होती हैं - कालिक एवं कालातीत। भारतीय परिप्रेक्ष्य में दर्शन का प्रमुख कार्य मानवीय समस्याओं का उन्मूलन है। मनुष्य की प्रमुख समस्या समय (कालचक्र) एवं आवश्यकताओं से मुक्ति है। प्रत्येक काल में इस मूल समस्या की अभिव्यक्ति अलग-अलग रूपों में हुई है। इन समस्त प्रकार की समस्याओं को बुद्ध ने एक नाम दिया है- दुःख, जो विभिन्न काल में विभिन्न रूपों में प्रकट होता है। इस कारण ही एक प्रौढ़ दर्शन द्वारा काल विशेष, व्यक्ति विशेष या समुदाय विशेष के आलोक में प्रस्तुत किया गया समाधान मात्र उस काल, व्यक्ति या समुदाय की समस्या का ही निराकरण नहीं करता वरन् उन सीमाओं का अतिक्रम कर सार्वभौम होने की क्षमता भी रखता है। जो दार्शनिक चिंतन जितना प्रौढ़ एवं गहन होता है उसकी उपयोगिता एवं प्रासंगिकता उतनी ही सुदीर्घ होती है। किसी भी प्राचीन धर्म एवं दर्शन के अनुयायी उसके उपदेशों का आकार तो ग्रहण कर लेते हैं लेकिन उसके मूल को ग्रहण नहीं कर पाते हैं। परिणामतः वे उस दर्शन के मूल स्वरूप एवं उसकी स्थापनाओं के वस्तवर्च (हार्द)

* दर्शनशास्त्र विभाग, श्री सद्गुरु जगजीत सिंह नामधारी कॉलेज, गढ़वा, झारखण्ड

** उपाचार्य एवं अध्यक्ष, दर्शन विभाग, नालन्दा कॉलेज, बिहारशरीफ, नालन्दा

को पकड़ नहीं पाते। बौद्ध दर्शन विश्व की उन प्राचीनतम दर्शनों में से है जिसकी सार्वकालिक प्रासंगिकता है। आवश्यकता है उसमें अन्तर्निहित विचारों के वस्तवचर्च से परिचित होने की। विसुद्धिमग्ग इस दिशा में एक सार्थक प्रयास है।

प्राचीन भारतीय दर्शनों के साथ समस्या तब उत्पन्न होती है जब उनके सिद्धान्तों एवं नियमों का उपयोग हम वर्तमान की समस्याओं के निराकरणार्थ करते हैं। उनके दार्शनिक कथनों पर उनके अनुयायियों द्वारा अनेक प्रकार से अलग-अलग समस्याओं के आलोक में अलग-अलग व्याख्याएँ प्रस्तुत की जाती हैं। कभी-कभी तो कई व्याख्याकार एक ही कथन की परस्पर प्रतिकूल व्याख्या उपस्थित कर देते हैं, तो कहीं एक ही शास्त्र में एक कथन दूसरे को खंडित करता-सा प्रतीत होता है, यथा-धम्मपद में एक स्थल पर कहा गया है 'अत्ता ही अत्तनो नाथो' अर्थात् 'आत्मा ही आत्मा का स्वामी है,' तो दूसरे स्थल पर कहा गया है 'सब्बे संखारा अनिच्चा ही यदा पज्जाय पस्सति' अर्थात् 'समस्त वस्तुएँ अनात्म हैं।' ऐसी अवस्था में इनकी समन्वयात्मक व्याख्या एक समस्या बन जाती है। इन व्याख्याकारों के समक्ष दूसरी सबसे बड़ी समस्या यह है कि इन्होंने न तो बुद्ध को देखा है और न सुना है। शास्त्र विशेष या कथन विशेष के प्रतिपादन के समय बुद्ध के मन में कौन से भाव थे? क्या समस्या थी? इनका ज्ञान इन्हें नहीं है। बुद्ध के वे शिष्य जिन्होंने उन्हें सुना या जिनके लिए ये उपदेश किये गये वे आज नहीं हैं। अब समस्या है कि किस प्रकार उनके अर्थ को ग्रहण करें? अगर ग्रहण करें तो कौन-सा अर्थ किस प्रकार बुद्ध के उपदेशों का सही मार्ग-दर्शन करेगा? यहीं पर अर्थघटन का महत्त्व अनुभूत होता है। अतः धुतंगनिद्देस में प्रयुक्त अर्थघटन के उपकरणों की विवेचना के पूर्व अर्थघटन की संक्षिप्त विवेचना अपेक्षित है।

अर्थघटन जिसे अंग्रेजी में Hermeneutics कहते हैं, वस्तुतः ग्रीक शब्द Hermenuin से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ है 'व्याख्या करना'। इसकी संज्ञा शब्द Hermenia है जिसका अर्थ है 'व्याख्या' या 'अर्थ-निरूपण'। मोटे तौर पर अर्थघटन का तात्पर्य शास्त्रों में वर्णित वाक्यों या सूत्रों का अर्थ-निरूपण एवं व्याख्या करना है। अर्थ-निरूपण में तीन प्रकार के कार्य होते हैं- (१) शास्त्रों के कथन को व्यक्त करना एवं उन पर बल देना, (२) अनुवाद करना, और (३) उनकी व्याख्या करना। इन तीनों कार्यों में सूत्रों के अर्थ की समझ अपेक्षित है। वस्तुतः 'भाषा किसी तथ्य या कथ्य के समझने एवं समझाने का सार्वभौम माध्यम है। समझ या अवबोध का

आकार या रूप ही अर्थ निर्णय या व्याख्या है।^१ समस्त प्रकार के अवबोध व्याख्या हैं और सभी व्याख्याएँ भाषा के माध्यम से ही घटित होती हैं। इस प्रकार विचार एवं कथन के मध्य सामान्य सम्बन्ध है जिसकी रहस्यात्मक अंतरंगता उस माध्यम से जुड़ी है जिसमें कथन (speech) छिपे तौर पर विचारों में समाहित है। अतः अर्थ-निरूपण या व्याख्या कोई शिक्षाशास्त्रीय चीज नहीं वरन् स्वयं अवबोध की प्रक्रिया है जो न मात्र उसे ही अनुभूत होती है जिसके लिए व्याख्या की जा रही है वरन् यह स्वयं व्याख्याकार को भी भाषाई व्याख्या में सुस्पष्टता का बोध कराती है।^२ यह प्रक्रिया अर्थ का स्पष्टीकरण है। दूसरे शब्दों में जिस रूप में किसी सूत्र या कथन का अवबोध संभव हो पाता है उसे व्याख्या कहते हैं। गैडेमर के अनुसार 'किसी कथन का अवबोध और उसकी व्याख्या एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं।'^३ अर्थघटन अवबोध की प्रक्रिया है जिसमें कथन के अन्तर्निहित भाव तथा भाषायी प्रश्नों के समाधान का प्रयास किया जाता है।

अर्थघटन की उपरोक्त विवेचना पाश्चात्य दर्शन के सन्दर्भ में Hermeneutics की प्रकृति से परिचित कराता है। दूसरी बात यह है कि Hermeneutics अंग्रेजी से उधार लिया शब्द है। इससे यह भाव प्रजनित होता है कि इस प्रकार की गवेषणा मात्र पाश्चात्य दर्शन में ही संभव है। साथ ही यहाँ एक सन्देह भी उभरता है कि Hermeneutics के सिद्धान्तों का प्रयोग भारतीय दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में संभव है या नहीं। इस संदर्भ में जब हम भारतीय दार्शनिक वाङ्मय पर अपनी दृष्टि डालते हैं तो हम पाते हैं कि यहाँ भी पाश्चात्य परम्परा के सामानान्तर अर्थघटन के विचार उपलब्ध हैं। लेकिन यहाँ इसकी विवेचना एवं व्याख्या सम्यक् रूप से नहीं हो पायी है। इस क्रम में प्रो० टी० आर० वी० मूर्ति की सुदृढ़ मान्यता है कि 'दर्शन को भाषा की समीक्षा के रूप में पुनर्परिभाषित किया जा सकता है।' हम 'क्या जान सकते हैं?' की समस्या 'हम क्या कह सकते हैं?' के प्रश्न से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है। यह विचार ही है जो शब्दों में व्यक्त होता है, समझा जाता है, संवादित होता है एवं उसकी समीक्षा की जाती है। भाषा कोई आकस्मिक एवं त्यागने योग्य वस्त्र नहीं है जिसे जब चाहें पहन लें तथा जब चाहें तो उतार दें। भाषा विचारों के साथ विकसित होती है, या फिर विचार इसके साथ विकसित होता है। अपने अन्तिम विश्लेषण में ये दोनों तादात्मक सिद्ध होते हैं।^४ इस तथ्य का कथन वाक्यपदीय के उस सूत्र में दृष्टिगत होता है जहाँ यह कहा गया है कि शब्द व्यापार के बिना संज्ञान संभव नहीं है समस्त प्रकार

के ज्ञान शब्दों से प्रकाशित होते हैं।^६ ऐसा नहीं है कि हमारे पास पूर्ण विकसित विचार हैं और उसकी अभिव्यक्ति हेतु शब्द नहीं हैं, या फिर हमारे पास मात्र शब्द हैं और उसके प्रयोग के लिए हम विचार ढूढ़ते हों। वस्तुतः शब्द और विचार साथ-साथ विकसित होते हैं। भर्तृहरि का यह पूर्ण स्थापित सिद्धान्त है कि 'चेतना और वाक् के मध्य तादात्म्य है।'^७ अर्थघटन में हम वाक् में अन्तर्निहित चेतना या शब्दों में छिपे विचार को बाहर निकाल कर प्रकाशित करने का प्रयास करते हैं। इस तरह प्राचीन शास्त्रों के वचनों के अर्थों को जो हमारे लिए अजनबी तथा दुरूह हो गये हैं, को सामने लाते हैं। गैडेमर की भी यही मान्यता है कि 'अर्थघटन शास्त्रों के अजनबी तथा दुरूह कथन जो आज असम्बद्ध तथा असंगत हो चुके हैं उनका अवबोध प्राप्त करना तथा उन्हें भाषा में व्यक्त करने का सिद्धान्त एवं व्यवहार है।'^८ इस कार्य के सम्पादन में कुछ सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना पड़ता है जिसके आधार पर हम शास्त्रोक्त वचनों का अर्थ सम्यक् ढंग से निष्पन्न करने में समर्थ हो पाते हैं। अर्थ-निरूपण के क्रम में जिन विधियों या उपायों का प्रयोग किया जाता है उन्हें अर्थघटन के उपकरण कहते हैं। भगवान् बुद्ध के कथनों को वर्तमान समस्यामूलक समाज के कल्याणार्थ प्रयुक्त करने हेतु वर्तमान के आलोक में उनका अर्थ-निरूपण आवश्यक है। अतः इस दृष्टि से अर्थघटन की उपादेयता और भी बढ़ जाती है।

वर्तमान आलेख का उद्देश्य आचार्य बुद्धघोष द्वारा रचित विसुद्धिमग्गो के धुतंगनिद्देस में प्रयुक्त अर्थघटन के उपकरणों की संक्षिप्त विवेचना है। इस क्रम में यह स्पष्ट करना अपेक्षित प्रतीत होता है कि विसुद्धिमग्ग में वस्तुतः बौद्ध योग का विवेचन हुआ है और इस क्रम में बौद्ध वचनों का अर्थ-निरूपण किया गया है। संयुक्तनिकाय की दो गाथाओं के अर्थ-निरूपण के क्रम में इस ग्रन्थ का प्रणयन हुआ है। वे दो गाथाएँ निम्नलिखित हैं -

'अन्तो जटा बहि जटा, जटाय जटिता पजा।

तं तं, गोतम, पुच्छामि, को इमं विजटये जटं ति।।'

'सीले पतिट्ठाय नरो सपज्जों, चित्तं पज्जं च भावयं।

आतापी निपको भिक्खु, सो इमं विजटये जटं, ' ति।।'^९

वस्तुतः दूसरी गाथा की व्याख्या विसुद्धिमग्ग में दृष्टिगत होती है। इस प्रकार अर्थघटन की दृष्टि से विसुद्धिमग्ग बौद्ध परम्परा की उत्कृष्ट रचना है। इसमें बुद्ध वचन

की सांगोपांग विवेचना हुई है। इनमें अर्थघटन के सिद्धान्त के दार्शनिक आधार हैं- बुद्ध प्रणीत अष्टांग-योग के उत्तरोत्तर अंग। यहाँ बौद्ध योग के क्रमशः विकास की दृष्टि से ही बुद्ध के कथनों की विवेचना की गयी है। यहाँ कथनों के उन्हीं अर्थों को आधार बनाया गया है जो बौद्ध-साधना के आलोक में स्पष्टतः परिलक्षित होते गये हैं। यद्यपि विसुद्धिमग्न में त्रिपिटकों में आगत कथनों की पर्यालोचना के क्रम में अर्थघटन के अनेक उपकरणों का प्रयोग किया गया है जिनकी विवेचना इस लघु आलेख में संभव नहीं है। अतः धुतंगों के अर्थ-निरूपण के क्रम में जिन उपकरणों का प्रयोग किया गया है, मात्र उनकी ही संक्षिप्त विवेचना वर्तमान आलेख का उद्देश्य है। बुद्धघोष ने धुतंगनिर्देश के प्रारम्भ में ही अपने अर्थघटन के उपकरणों का उल्लेख निम्नलिखित श्लोक में किया है -

अत्थतो लब्धवणादीही समादानविधानतो।

पभेदतो भेदतो च तस्स तस्सनिसंसतो।।

कुसलत्तिकतो चेव धुतादीनं विभागतो।

समासव्यासतो चापि विज्जातब्बो विनिच्छयो।।^९

उपरोक्त श्लोक के विश्लेषणोपरान्त हम अर्थघटन के जिन आठ उपकरणों से परिचित होते हैं, वे हैं - (क) अर्थ, (ख) लक्षण, (ग) समादान (घ) विधान, (ङ) प्रभेद-भेद, (च) कुशलत्रिक (छ) धुत आदि विभाग एवं (ज) संक्षेप और विस्तार। जिस प्रकार औजार की पेटी का प्रत्येक औजार अलग-अलग कार्यों के लिए प्रयुक्त होता है, ठीक उसी प्रकार अर्थघटन के प्रत्येक उपकरण पद के अलग-अलग पक्षों पर प्रकाश डाल कर उसके अर्थ की सम्यक् निष्पत्ति में सहायक होते हैं, यथा- अर्थ उसके अभिधार्थ का सूचक है तो लक्षण उसके गुण का, रस उसके कार्य का तो भेद उसके पारिभाषिक लक्षण का, इत्यादि। इनमें से प्रथम पाँच उपकरणों के आलोक में समस्त तेरहो धुतंगों का पृथक्-पृथक् अर्थविनिश्चयन किया गया है तथा अन्तिम तीन उपकरण धुतंग के शेष अर्थों को प्रकाश में लाते हैं। यहाँ उपरोक्त अर्थघटन के उपकरणों की संक्षिप्त विवेचना की जायगी।

(क) अर्थ - किसी भी विषय पर क्रमबद्ध रूप से विचार करने हेतु प्रारम्भ में ही शब्द को परिभाषित करना अपेक्षित है। यहाँ हमारा मुख्य शब्द है- धुतंग। जब तक हम यह नहीं जानते कि यह किस भाव, क्रिया या वस्तु का सूचक है तब तक उसके

विषय में कुछ भी कहा जाय उसका अवबोध नहीं होता। प्रश्न है अर्थ नामक उपकरण किन तथ्यों को प्रकाश में लाता है। हास्पर्स के अनुसार 'अर्थ' यह बताता है कि शब्द विशेष या वाक्य विशेष किस तथ्य के सूचक हैं। इसके अतिरिक्त वह उसके कारण, कार्य, अभिप्राय, व्याख्या, प्रयोजन, आपादान एवं महत्त्व का भी संकेत करता है।^{१०} इस परिप्रेक्ष्य में हम विसुद्धिमग पर अपनी दृष्टि डालते हैं तो पाते हैं कि यहाँ भी अर्थ के अन्तर्गत उपरोक्त में से कुछ का प्रकाशन किया गया है, यथा- संकेत- धुतंग से किस तथ्य का संकेत होता है इसे बताने के लिए धुतंग शब्द का शाब्दिक विश्लेषण किया गया है- धुत+अंग। धुत शब्द का शाब्दिक अर्थ है- धुन डालना या नष्ट करना और विशेष अर्थ है- परिशुद्ध करना। विसुद्धिमग में इसके दोनों अर्थों को शीलविशुद्धि के आलोक में स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि सभी तेरहो धुतंग मानवीय क्लेशों को नष्ट करने का संकेतक है, क्योंकि इनके धारण करने का उद्देश्य चित्तविशुद्धि है। चूँकि भिक्षु इसे अपने अंगों की तरह सदा धारण किये रहते हैं इस कारण ही इसे धुतंग कहते हैं। यहाँ पर संकेत एवं अभिप्राय दोनों की दृष्टि से धुतंग का अर्थ निरूपण हुआ है। कारण (पददान)- धुतंग ग्रहण करने का आसन्न कारण है- लोलुपता से रहित होने की इच्छा तथा आर्य श्रेष्ठ धर्मों की प्राप्ति की भावना।^{११} कार्य (रस)- धुतंग का कार्य है लोभ तथा वासना का नाश करना।^{१२}

(ख) लक्षण- अर्थात् धुतंगों से रहित होना। धुतंगों से रहित होना ही इसके जानने का आधार है।^{१३}

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अर्थघटन के उपर्युक्त उपकरण न मात्र पदों के शाब्दिक अर्थ को स्पष्ट करते हैं, वरन् ये उसके आनुषंगिक गुण, कार्य, कारण, विशिष्ट लक्षण आदि को भी सामने लाते हैं। यहाँ पर प्रथम धुतंग, 'पंसुकूलिकांग' के परिप्रेक्ष्य में प्रथम पाँच उपकरणों की विवेचना प्रस्तुत की जायगी। अर्थ- पंसुकूलिकांग शब्द तीन शब्दों के योग से बना है, पंसु + कूलिक + अंग। पंसु का अर्थ है- पथ, श्मशान, कूड़े का ढेर, धूल इत्यादि। कूल का अर्थ है - किनारा, ऊपर उठा हुआ। अंग का अर्थ है- शरीर को अंगवत् धारण किये रहना। यहाँ अंग शब्द लाक्षणिक अर्थ में प्रयुक्त है। जिस प्रकार शरीर के अंग सदा शरीर के साथ रहते हैं, ठीक उसी प्रकार धुतंग पालन करने वाले को सदा इसकी चेतना बनी रहती है। इस प्रकार शब्दार्थ विश्लेषण के आधार पर यहाँ 'पंसुकूलिकांग' की व्याख्या की गयी है, अर्थ का स्पष्टीकरण किया गया है। यहाँ अर्थ शब्द व्याख्या के अर्थ में प्रयुक्त है।

विसुद्धिमग में पंसुकूल वस्त्र के प्रकारों का विश्लेषण किया गया है। वस्त्रों के प्राप्तिस्थान के अनुकूल उनका नामकरण हुआ है, यथा- 'सोसानिक', अर्थात् श्मशान में पड़ा वस्त्र, 'पापणिक' अर्थात् पथ में पड़ा वस्त्र, 'वाताहट' अर्थात् हवा द्वारा उड़कर गिरा वस्त्र, 'सामुदिय' अर्थात् समुद्र की लहरों द्वारा किनारे लगाया गया वस्त्र^६ इत्यादि। यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि पंथिक, वाताहट एवं श्मशानिक वस्त्रों को तभी उठाना चाहिए जब यह सुनिश्चित हो जाए कि इन वस्त्रों का स्वामी वहाँ पर नहीं है और इन वस्त्रों में उसकी रुचि नहीं है। 'पंसुकूलिकांग' का उपरोक्त विश्लेषण उसके सम्बन्ध में समस्त दुरुहता का परिहार कर उसके अर्थ को स्पष्ट करता है।

(ग) समादान - इसका शाब्दिक अर्थ है- ग्रहण करना। धुतंग ग्रहण करने की चेतना समादान है। इसे स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि जो ग्रहण करता है वह पुद्गल है, जिसे ग्रहण करता है वह चित्त-चैतसिक धर्म है और जो ग्रहण करने की चेतना है वह धुतंग है। पंसुकूलिकांग ग्रहण करने के लिए दो प्रकार के कथन का प्रयोग आया है- (क) मैं गृहपति प्रदत्त चीवर का परित्याग करता हूँ, या (ख) मैं पंसुकूलिक वस्त्र धारण करता हूँ। इनमें एक कथन निषेधात्मक है तो दूसरा विधेयात्मक। मुख्य रूप से दोनों का भावार्थ एक है। समान रूप से प्राप्त वस्त्रों का त्याग चाहे वे कृत हो या प्रदत्त। समादान नामक अर्थघटन का उपकरण भिक्षु के उस कथन या संकल्प को प्रकाशित करता है जिसमें प्रदत्त वस्त्रों का परित्याग एवं पंसुकूलिक वस्त्र धारण करने की चेतना निहित है। यह चेतना तब तक उनमें बनी रहती है जब तक कि वह पंसुकूल वस्त्र धारण किये है।

(घ) विधान - विधान का तात्पर्य यहाँ न तो पंसुकूल धारण करने की विधि से है और न ही इस व्रत के पालन के नियम से है। यह अर्थघटन का वह उपकरण है जो यह स्पष्ट करता है कि किस प्रकार के वस्त्र पंसुकूल नहीं हैं। इसके अनुसार तीन प्रकार के वस्त्र पंसुकूलिक नहीं हैं- (क) चारिका के क्रम में भिक्षाटन में प्राप्त वस्त्र या संघ को प्रदत्त वस्त्र। (ख) वर्षावास के अन्त में भिक्षुओं द्वारा गृहस्थों से प्राप्त वस्त्र जो पांसुकूलिक को दिया जाता है, वह पंसुकूल नहीं है, और (ग) दाता द्वारा भिक्षु के चरणों पर रखा गया वस्त्र भी पंसुकूल नहीं है, यद्यपि यह एक ओर से शुद्ध होता है, लेकिन इस वस्त्र को वह भिक्षु किसी पांसुकूलिक को प्रदान कर देता है तो वह दोनों ओर से शुद्ध हो जाता है।

(ङ) प्रभेद-भेद- यह अर्थघटन का वह उपकरण है जो धुतंग धारण करने वाले भिक्षुओं को गुणात्मक दृष्टि से कोटिबद्ध करता है और उसके अर्थ को प्रकाशित

करता है तथा भिक्षु संघ में उसका निर्धारण करता है, यथा- 'शमशानिक को ग्रहण करने वाला 'उत्कृष्ट' होता है। प्रव्रजित भिक्षु ले लेंगे यह सोचकर रखे गये वस्त्र को ग्रहण करने वाला 'मध्यम' होता है तथा चरण पर रख कर दिये गये को ग्रहण करने वाला निम्न कोटि का पांसुकूलिक होता है।

भेद अर्थघटन का वह उपकरण है जिसके द्वारा धुतंग विशेष का पारिभाषिक लक्षण स्पष्ट होता है। पारिभाषिक लक्षण उस लक्षण को कहते हैं जिसकी अनुपस्थिति में कोई पद या वस्तु अपने मूल अर्थ या मूल स्वरूप में नहीं रहती। हास्पर्स के शब्दों में 'A defining characteristic of a thing.... is a characteristics in the absence of which the word would not be applicable to the thing.'¹⁵

किसी विशेषता का पारिभाषिक होना या न होना सदैव कसौटी पर निर्भर होता है। यदि वह विशेषता चीज में न हो तो क्या फिर भी वह शब्द उस पर लागू होगी? यदि उत्तर 'नहीं' है तो फिर यह विशेषता पारिभाषिक लक्षण है; यदि उत्तर 'हाँ' है तो वह आनुषंगिक गुण मात्र है।¹⁶ हास्पर्स के शब्दों में 'A defining characteristic is a sine qua non (literally without which not).'

क्या यह चीज तब भी 'X' होगी जब उसमें विशेषता 'B' नहीं हो? यदि नहीं तो 'B' 'X' की अविनाभाव विशेषता है 'sine qua non' है, अर्थात् पारिभाषिक लक्षण है।

इस दृष्टि से जब हम पांसुकूलिकांग के 'भेद' नामक उपकरण को देखते हैं तो हम पाते हैं कि यह इसके पारिभाषिक लक्षण को प्रकाशित करता है। पांसुकूलिकांग का पारिभाषिक लक्षण है 'गृहस्थ प्रदत्त वस्त्र का त्याग।' जैसे ही कोई पांसुकूलिक गृहस्थ से वस्त्र ग्रहण कर लेता है वैसे ही उसका धुतंग खंडित हो जाता है। वह पांसुकूलिक नहीं रहता।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि धुतंगनिर्देस में विभिन्न धुतंगों के अर्थ स्पष्टीकरण हेतु पाँच उपकरणों की सहायता ली गयी है इसके अतिरिक्त तीन उपकरण और हैं वे वस्तुतः विश्लेषण आधारित हैं। विस्तार भय के कारण उनकी चर्चा यहाँ नहीं कर रहे हैं। साथ ही विश्लेषण वस्तुतः दार्शनिक विधि है जिसका प्रयोग इस ग्रन्थ के प्रणयन में हुआ है। यद्यपि ये भी धुतंग के विभिन्न प्रयोग एवं परिप्रेक्ष्य विशेष में प्रयुक्त हुए हैं, फिर भी इनकी चर्चा यहाँ अपेक्षित प्रतीत नहीं होती। दूसरी बात यह है

कि बुद्धघोष ने अपने अर्थघटन की क्रिया के क्रम में बुद्ध वचनों के उदाहरणों का प्रयोग बहुलता में किया है। अर्थ-निरूपण के क्रम में उन्होंने बौद्ध दर्शन व उसके दार्शनिक विचारों को अपना तात्त्विक आधार तो बनाया ही है, साथ ही त्रिपिटक के कथनों की सीमा का भी अतिक्रमण नहीं किया है। यद्यपि इनके अर्थघटन की विधि एवं उपकरणों की समानता पाश्चात्य दर्शन की विधि एवं उपकरणों से है लेकिन इनकी विवेचना शुद्ध भारतीय है।

सन्दर्भ :

1. Gadamer, H.G., "Language is the universal medium in which understanding itself is realized. The mode of realisation or understanding is interpretation. Wahrheit and Mc those einer philosophischen Hermeneutik. Auglage Tübingen, 1965, English Translation by W. Glen-Doepel, *Truth and Method*, 2nd Edition, London 1979, pp. 359-360.
2. वही, पृ० ३५९-३६०.
3. H.G. Gadamer, "Understanding and interpretation are indissolubely bound up with each other", *Ibid*.
4. Murti, T.R. V., Comments, pp. 321-322. FNZ Bhartṛihari, *Vākyapadīya* (ed) by Abyankar K.V. and Limaya, V.P., Poona, 1965, p. 2.
5. वाक्यपदीय, भर्तृहरि, १-१२३
6. वही।
7. H.G. Gadamer, *On the natural inclination toward Philosophy: Reason in the age of Science*, P.G. Lawrence, Cambridge, M.B. and London, The MIT Press, 1962, p. 149.
8. संयुक्तनिकाय, १/३/२३, विसुद्धिमग्गो, हिन्दी रूपान्तर सहित, सं० स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, बौद्ध भारतीय, वाराणसी, १९९२, पृ० ३.
9. *Ibid.*, 48, 10 John Hospers, *An Introduction to Philosophical Analysis*. Allied Publishers. IXth reprint 1992, pp. 11, 12.

२८ : श्रमण, वर्ष ५९, अंक ४/अक्टूबर-दिसम्बर २००८

10. विसुद्धिमग्गो, पृ० ५०.

11. वही।

12. वही।

13. वही, पृ० ५१.

14. John Hospers, *An Introduction to Philosophical Analysis*. pp. 23, 24.

15. वही, पृ० २४.

16. वही।



भरत : एक शब्द-यात्रा

वेद प्रकाश गर्ग*

जैन मान्यतानुसार त्रिषष्टिशलाका महापुरुषों में बारह चक्रवर्तियों की भी गणना होती है। इन बारह में सम्राट भरत प्रथम चक्रवर्ती थे। जैन धर्म के चौबीस तीर्थंकरों में आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभ के शत पुत्रों में भरत ज्येष्ठ पुत्र थे। ऋषभदेव की पत्नी सुमंगला इनकी माता थी।^१ भरत ही ऋषभदेव के उत्तराधिकारी बने। भरत के पीछे उनके पितामह १४वें अर्थात् अंतिम कुलकर नाभिराय की तथा पिता ऋषभदेव की प्रतापी परम्परा थी।

ब्रह्मा-पुत्र आदि मनु स्वयंभुव के वंश में राजा प्रियव्रत हुए। ये बड़े वीर एवं प्रजापालक थे। इनका उत्तराधिकारी अग्नीध्र हुआ। यह प्रियव्रत का दायद पुत्र था (अर्थात् कन्या का पुत्र था), जिसे जम्बूद्वीप का शासक बनाया गया था। अग्नीध्र के नौ पुत्रों में सबसे बड़े पुत्र नाभि थे।^२ ये अत्यन्त प्रतापी एवं तेजस्वी थे। नाभिराय के जीवन-काल में ही भोगभूमि की समाप्ति और कर्मभूमि का आरम्भ हुआ। उन्होंने युग-प्रवर्तन किया। उनका एक नाम 'अजनाभ' भी था। उनके नाम पर ही इस कार्यभूमि (आर्य खंड) को 'नाभिखंड' अथवा 'अजनाभवर्ष' कहा गया।^३ यह भारतवर्ष का प्राचीन नाम है।^४

अयोध्या नरेश महाराज नाभिराय की पत्नी मरुदेवी के गर्भ से प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का जन्म अयोध्या में हुआ।^५ उनका जन्म दो युगों की संधि-बेला अर्थात् मानव सभ्यता के प्रथम चरण में हुआ था, जब भोगभूमि का अन्त और कर्मभूमि का प्रारम्भ हो रहा था। ऋषभदेव ने सामाजिक जीवन की समुचित व्यवस्था कर उसके विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। कृषिकर्म में 'वृषभ' की प्रतिष्ठा प्रतिपादित की और स्वयं भी 'वृषभदेव' कहलाए। 'वृषभ-लांछन' उनकी पहचान का विशेष चिह्न है।^६

ऋषभदेव क्षात्र-धर्म के प्रथम प्रवर्तपिता थे।^७ प्राचीन भारत के क्षत्रियों का आद्य वंश उनके नाम पर ही 'इक्ष्वाकु-वंश' कहलाया।^८ अपने विशिष्ट गुणों के कारण ही उन्हें एक श्रेष्ठ राजा तथा विष्णु के चौबीस अवतारों में आठवाँ अवतार माना गया है।^९ ऋषभदेव अपने ज्येष्ठपुत्र भरत को राजपद पर अभिषिक्त कर स्वयं संन्यस्त हो

* १४, खटीकान, मुजफ्फरनगर-२५१००२ (३०प्र०)

गए थे।^{१०} ऋषभदेव ने भरत को हिमवान (हिमालय) का दक्षिण देश (क्षेत्र) शासन के लिए दिया था।^{११} वस्तुतः ऋषभ परमहंस थे। वे न केवल जैन समाज के ही, अपितु सम्पूर्ण आर्य जाति के उपास्य देव हैं। उनका जीवन ही स्वाभाविक धर्म का प्रवर्तक है। उनके द्वारा प्रतिपादित और आचरित प्रवृत्ति धर्म ही वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन का मूलाधार है और यही अनुकरणीय है। जैन समाज में एकान्तिक निवृत्ति (विकृत निवृत्ति धर्म) की स्थिति बाद का प्रभाव है।

धर्म-प्रवर्तक, आदिजिन ऋषभदेव के सुपुत्र एवं उत्तराधिकारी अयोध्या नरेश भरत प्रथम चक्रवर्ती सम्राट थे। वे विनीत, उदार, क्षत्रिय गुणोपपेत तथा सर्वहित-चिंतक थे। उन्होंने अद्वितीय सुंदरी कन्या पांचजनी (विश्व रूपात्मजा पंचजना) के साथ विवाह किया था।^{१२} उनके बड़े पुत्र का नाम सुमति था।^{१३} इसी को राज्य देकर भरत ने भी संन्यास ले लिया था।

भरत ने षट्खंड पृथ्वी को जीता और समुद्र-पर्यन्त पृथ्वी के सम्राट बने। अपनी दिग्विजय-यात्रा के प्रसंग में उनका अपने भाई बाहुबली से भी संघर्ष हुआ। प्रतापी बाहुबली के महत् त्याग तथा भरत की विनम्रता से संघर्ष की स्थिति समाप्त हुई। बाहुबली दृढ़ तपस्वी और मोक्षगामी महासत्त्व थे।^{१४} अपने प्रेरक व्यक्तित्व के कारण उन्हें जैन पुराण-पुरुषों में अद्वितीय एवं अविस्मरणीय स्थान प्राप्त है। उनका स्थान बहुत ऊँचा है।

भरत चक्रवर्ती^{१५} लोक-कल्याण की चिन्ता में सदा मग्न रहते हुए मानवता को सुदृढ़ करने में लगे रहते थे। प्रजा की चिन्ता उनकी अपनी चिन्ता बन गई थी। अत्यन्त वात्सल्य भाव से उन्होंने प्रजा का पालन-पोषण किया। वे सच्चे अर्थों में प्रजापालक थे। महान् वीर्यवान्, धर्मज्ञ, सत्यवक्ता, दृढ़व्रती, शस्त्र एवं शास्त्रों के ज्ञाता, निग्रह-अनुग्रह में समर्थ तथा सम्पूर्ण प्राणियों के हितैषी थे। वे वैभव-सम्पदा होते हुए भी वैरागी थे। उनका मन संसार से विरक्त था। उन्होंने एक साथ राग और विराग, भोग और योग, जगत् और मोक्ष का उत्कृष्ट आदर्श उपस्थित किया। अन्त में दीक्षा लेते ही उन्हें कैवल्य ज्ञान हो गया।^{१६} वास्तव में वे अद्वितीय थे। उन्हीं के नाम से यह देश 'अजनामवर्ष' के स्थान पर 'भारतवर्ष' कहलाया।^{१७}

ऋषभ-पुत्र भरत का वर्णन ऐसे तो जैन परम्परा तथा ब्राह्मण परम्परा- दोनों में मिलता है, किन्तु दोनों परम्पराओं में उनके जीवन का चित्रण अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार अलग-अलग रीति से किया गया है। इसी कारण, जैन धर्म ग्रंथों तथा ब्राह्मणीय धर्मग्रंथों में वर्णित उनके जीवन-चरित्रों में बहुत कुछ समानता होते हुए भी कुछ तथात्मक अन्तर भी मिलते हैं। जैन परम्परा में उनका वर्णन शलाकापुरुषों के अन्तर्गत

प्रथम चक्रवर्ती के रूप में हुआ है और उनका सारा जीवन पिता से प्राप्त रिक्थ के अनुरूप है। वे निवृत्ति धर्म के अनुगामी हैं और यही स्वाभाविक निवृत्ति धर्म है, किन्तु इसमें कहीं-कहीं चारित्र-लेखकों द्वारा प्रवृत्ति धर्म का रंग भी चढ़ा दिया गया है।

ब्राह्मणीय पौराणिक साहित्य में ऋषभ-पुत्र भरत का उल्लेख 'जड़ भरत' नामक एक राजर्षि महायोगी के रूप में हुआ है। वहाँ उनके तीन जन्मों की कथा वर्णित है। राजा भरत प्रजापालक, दयालु एवं धार्मिक प्रवृत्ति के थे। इनकी प्रजा सुखी थी। इन्होंने अनेक यज्ञों के द्वारा यज्ञपुरुष की आराधना की थी। ये परम भागवत (भगवद् भक्त) थे। इन्होंने भक्तिमार्ग का अवलम्बन लेते हुए अनेक वर्षों तक प्रजाहित साधन में रत रहकर राज्य किया। अन्त में राज्य छोड़कर ये तप हेतु पुलहाश्रम चले गए थे।

आश्रम में रहते हुए इन्हें एक हरिण शावक के प्रति मोह हो गया था और मृत्यु के समय भी इनका चित्त उसी में लगा रहने के कारण इन्हें अगले जन्म में मृग-योनि में जन्म लेना पड़ा। तत्पश्चात् तृतीय जन्म में अंगिरा कुल के एक ब्राह्मण के यहाँ इनका जन्म हुआ। इन्हें पूर्व जन्मों का ज्ञान था। अतः ये संसार की आसक्ति से बचने के लिए जड़वत् (अबोध, मूढ़ जैसा) व्यवहार करते हुए मत्तचित्त होकर ब्रह्म-चिन्तन में निमग्न रहते थे। इसीलिए इन्हें 'जड़ भरत' की संज्ञा मिली। एक बार लोगों ने इन्हें पागल समझकर सौवीर राजा की पालकी में लगा दिया। मार्ग में इनका राजा से संवाद हुआ अर्थात् ज्ञानपूर्ण बातों की तो राजा इन्हें तत्त्वज्ञानी जानकर पालकी से उतर इनसे क्षमायाचना की। अन्त में इन्हें मोक्ष की प्राप्ति हुई। इनके त्यागमय महान् चरित्र का अनुकरण किसी के द्वारा संभव न हो सका।^{१८}

श्रीमद्भागवत् में (पंचम स्कन्द के द्वितीय अध्याय से चतुर्दश अध्याय तक) जहाँ ऋषभदेव का जीवन-चरित्र विस्तार से वर्णित है, वहाँ उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत के यश का भी विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। अन्य पुराणों में भी उनका उल्लेख हुआ है। इतिहास में भरत को आर्य-संस्कृति का पोषक कहा गया है। वे परम दयालु, आत्मयोगी, परम भागवत् भक्त एवं मोक्षमार्गी-श्रेष्ठ थे।

वैदिकधारा के ग्रंथों में प्रजापति ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत को ही यद्यपि इस देश के नाम 'भारतवर्ष' का मूलाधार माना गया है, किन्तु कुछ ऐसे विरोधात्मक उल्लेख भी मिलते हैं जिनके संदर्भ से कतिपय विद्वानों ने दौष्यन्ति भरत के नाम को मूलाधार स्वीकार किया है।^{१९} परन्तु प्राचीन साहित्य से इस तथ्य की पुष्टि नहीं होती। उसके अनुसार तो ऋषभ-पुत्र भरत 'भारत' नाम के आधार सिद्ध होते हैं। 'अग्नि पुराण' (१०/१०-११); 'मार्कण्डेय पुराण' (५०/३९-४२); 'नारद पुराण' (पूर्वखंड, अध्याय ४८); 'लिङ्ग पुराण' (४७/१९-२३); 'स्कन्द पुराण' (माहेश्वर खंड कौमार

खंड, ३७/५७); 'शिव पुराण' (३७/५७); 'वायु पुराण' (पूर्वार्ध, ३०/५०-५३); 'ब्रह्माण्ड पुराण' (पूर्व २/१४); 'कूर्म पुराण' (अध्याय ४९); विष्णु पुराण' (द्वितीयमांश, अध्याय १); 'वाराह पुराण' (अध्याय ७६); 'मत्स्य पुराण' (११४-५-६) आदि पुराणों के अतिरिक्त श्रीमद्भागवत में तो स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ऋषभ के ज्येष्ठ पुत्र भरत महायोगी थे और उन्हीं के नाम पर यह देश 'भारतवर्ष' कहलाया - 'येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीद्येनेदं वर्षं भारतमिति व्यापदिशन्ति।। (५/४/९)। उक्त के अतिरिक्त जैन धर्म के प्रायः सभी पुराण-ग्रंथ एवं अन्य साहित्य इस तथ्य के साक्षी हैं कि ऋषभदेव के पुत्र भरत ही 'भारतवर्ष' नाम के मूलाधार हैं। जैन साहित्य ऐसे तथ्योल्लेख से भरा पड़ा है। अतः यही आधार निर्भ्रान्त है। इससे प्रकट है कि भरत जो शारीरिक बल एवं आध्यात्मिक शक्ति से परिपूर्ण थे, भारत के सम्राटों की मौक्तिक माला के सुमेरु थे। सम्राट होते हुए भी अपने संतुलित आचरण के कारण वे वैरागी कहलाते थे। वे रागी होते हुए भी वीतरागी थे, अनासक्त थे।

प्रथम चक्रवर्ती^{१०} भरत के उदात्त चरित्र को लेकर पर्याप्त साहित्य-रचना हुई है। भगवज्जित सेनाचार्य कृत महापुराण से लेकर आधुनिक काल तक भरत के चरित्र पर आधारित अनेक रचनाओं का निर्माण किया गया। भरत विषयक यह साहित्य दो रूपों में है - एक तिरसठशलाका महापुरुषों से सम्बद्ध रचनाओं में और दूसरा उन पर स्वतंत्र कृतियों के रूप में। ऋषभदेव एवं बाहुबली से सम्बन्धित रचनाओं में भी भरत चरित्र वर्णित है। भरतेश्वराभ्युदय काव्य (सिद्धयङ्क - महाकाव्य) जैन कुमारसंभव, भरतचरित्र विषयक स्वतंत्र कृतियां हैं।

संस्कृत-हिन्दी शब्दकोशों में 'भरत' शब्द के यद्यपि कई अर्थ दिए गए हैं, किन्तु उनमें प्रसंग-प्राप्त अर्थ ही विचारापेक्ष हैं। संस्कृत के 'हलायुधकोश' में 'भरत' शब्द का सम्बद्ध अर्थ-विवेचन इस प्रकार दिया है जो मननीय है - 'भरतः पुं० (विभर्ति स्वाङ्गमिति, विभर्ति लोग निति वा। भृ + 'भृमृदृशियजीति' अत च) नाट्य शास्त्रकृन्मुनि विशेषः, दौष्यन्तिः (शाकुन्तलेय) आदि अर्थ के बाद लिखा है। - 'ऋषभ देवात् इन्द्र दत्त जयन्त्यां कन्यायां जात शत पुत्रान्तर्गत ज्येष्ठपुत्रः^{११}' और यही अर्थ हमें अभिप्रेत है। 'हिन्दी विश्वकोश' (नागेन्द्र नाथ वसु) में भी लगभग ऐसा ही व्युत्पत्ति-सूत्र दिया गया है, जिसमें (उण् ३/११०) अधिक है और अर्थ लिखा है - 'ऋषभदेव के पुत्र', इसके आगे कुछ और विवरण दिया है। साथ ही 'जड़भरत' का उल्लेख कर लिखा है - 'ये लोक संग विवर्जित रहने के अभिप्राय से जड़वत् रहते थे।' जैन मतानुसार आदि तीर्थङ्कर ऋषभनाथ भगवान् के पुत्र छः खंड के अधिपति चक्रवर्ती थे। संसार से परम विरक्त रहते थे।^{१२} 'भारतवर्षीय प्राचीन चरित्र कोश'

(सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव) तथा अन्यान्य हिन्दी-कोशों में 'भरत' का अर्थोल्लेखान्तर्गत - दुष्यन्त-पुत्र, नाट्यशास्त्रकर्ता, नट आदि के साथ ही ऋषभ-पुत्र भरत को 'जड़भरत' के रूप में उल्लेखित किया गया है।^{१३}

वैसे 'भरत' शब्द का जहाँ तक शाब्दिक अभिप्राय है, तो उसका अर्थ है जो संसार का सुचारू रूप से 'भरण-पोषण' करता है, जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी 'रामचरितमानस' में भरत के नामकरण के सम्बन्ध में लिखा है - 'विश्व भरण पोषण कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई।।' १/१९७/७

इसी संदर्भ में श्रीमद्भागवत का निम्न उद्धरण विशेष महत्त्वपूर्ण है -

'तस्माद् भवन्तो हृदयेन जाताः

सर्वे महीयांसममुं सनाभम्।

अक्लिष्ट बुद्ध्या भरतं भजध्वं

शुश्रूषणं तद् भरणं प्रजानाम्।।' (५/५/२०)

भगवान् ऋषभदेव के कथन के रूप में इसका तात्पर्य यह है कि 'यह मेरा ज्येष्ठ पुत्र प्रजाओं के भरण-पोषण रूप सेवाकार्य करने के कारण 'भरत' नाम से विख्यात होगा। इसी प्रकार 'मत्स्यपुराण' में लिखा है -

भरणात् प्रजानाञ्छैव मनुर्भरत उच्यते।

निरुक्तवचनैश्चैव वर्षं तद् भारतं स्मृतम्।। ५०/५-६

उक्त कथन से प्रतीत होता है कि इस पुराण में 'मनु' को ही प्रजाओं के भरण-रक्षण के कारण 'भरत संज्ञा से अभिहित होने से यह देश 'भारत' कहलाया। यहाँ 'भरत' से 'भारत' बना, यह तो प्रकट है, किन्तु ऋषभ-पुत्र-भरत का उल्लेख नहीं है, यहाँ 'मनु' को 'भरत' कहा गया है, जिससे यह अन्य पुराणोल्लेख से विपरीत-सा जान पड़ता है, किन्तु ऐसा नहीं है। विचार करने पर ज्ञात होता है कि उक्त कथन भी सापेक्ष है। वस्तुतः उस काल में भारत के शासक को 'मनु' कहते थे और 'भरत' भी 'मनु' थे। इसीलिए 'मनु' एवं 'भरत' दोनों का एक साथ उल्लेख हुआ है। यहाँ आदिजनक (स्वयंभू) मनु से तात्पर्य नहीं है।^{१४} जैसा कि 'महापुराण से भी प्रकट है - नाभिराय को अंतिम मनु माना गया है, किन्तु ऋषभदेव और उनके बाद भरत ने भी वही कार्य प्रतिभा, मनस्विता और सुदृढ़ता से सम्पन्न किया, अतः उन्हें भी - 'मनु' कहा गया। जिनसेनाचार्य के 'महापुराण' में उल्लेख है - 'सोऽजीजनत्तं वृषभं महात्मा, सोऽप्यग्रसूनुंमनुमादि राजम्।।' (३/२३७) अर्थात् उन्होंने (नाभिराय) वृषभ - जैसे महात्मा को जन्म दिया और

वृषभदेव के ज्येष्ठपुत्र आदिराजा भरत भी 'मनु' हुए। इसी भाव को एक अन्य स्थान पर महापुराणकार ने 'वृषभो भरतेश्च तीर्थ चक्रभृतौ मनुः' (३/२३२) कहा है। इसका तात्पर्य है कि वृषभदेव (ऋषभ), मनु एवं तीर्थङ्कर थे और भरत चक्रवर्ती भी 'मनु' संज्ञा से अभिहित होते थे। 'गुणभद्राचार्य ने उत्तरपुराण (७/४९) में भरत को सोलहवाँ मनु लिखा है। भरत को प्रजा के भरण-पोषण का कर्तव्य निर्वाह मन से किये जाने के कारण सोलहवाँ मनु कहा गया है और इस प्रकार उनकी 'मनु' संज्ञा सार्थक है। अतः इसमें कोई संशय नहीं है।

अपने लोकहित-कार्यों से भरत^{१५} का यश विश्व में मनु, चक्रवर्तियों में प्रथम, षट्खंड भरत क्षेत्र (भारतवर्ष) के अधिपति, राजराज, अधिराट्ट और सम्राट के रूप में उद्घोषित हो गया था। भरत के उदात्त चरित्र ने लोगों के हृदयों में अलौकिक भावानाओं को जन्म दिया था और उनके मन में यह धारणा जम गई थी की अति शक्तिसम्पन्न भरत के चरित्र को सुनने या सुनाने मात्र से कामनाएँ स्वतः पूर्ण हो जाती हैं। ऐसी आस्था के परिणामस्वरूप ही आगे चलकर पूज्य भाव से उनकी मूर्तियों का निर्माण किया गया। देश में कई स्थानों पर उनकी अति सुन्दर मूर्तियाँ मिलती हैं, जिनमें देवगढ़स्थ ध्यानमग्न कायोत्सर्ग मुद्रा में उत्कीर्णित उनकी एक प्राचीन प्रतिमा अपनी भव्यता के कारण उल्लेखनीय है।

अन्त में भागवतपुराणकार ने भरत के यश का वर्णन करते हुए एक स्थान पर लिखा है - 'हे राजन्! भगवद् भक्ति से युक्त, निर्मल गुण, कर्मशील राजर्षि भरत का चरित्र कल्याणप्रद आयु का संवर्धक, धनाभिवर्द्धक, यशःप्रदायी तथा स्वर्ग, अपवर्ग का कारणभूत है' और भी 'उन्होंने जिस तरह शासन किया, कोई अन्य नहीं कर सकता। उन उत्तम श्लोक भरत ने दुस्त्यज स्त्री-पुत्र, मित्र और राज्य की लालसाओं को मलवत त्याग दिया।'

वस्तुतः आदिजिन ऋषभपुत्र प्रथम चक्रवर्ती सम्राट भरत की शुभ्रा एवं अनश्वरी कीर्ति, जो पृथ्वी और स्वर्ग को व्याप्त करने वाली है, चिरस्थायी है, शाश्वत है, नित्य है।

संदर्भ :

१. इनकी माता के रूप में 'जयन्ती' का नामोल्लेख भी मिलता है। इन्द्र ने 'जयन्ती' को ऋषभदेव को दिया था।
२. वायुपुराण ३१/३७-३८ (आग्नीध्रं ज्येष्ठ दायदं कन्या पुत्रं महाबलम्; प्रिय व्रतोऽभ्यधिज्यतं जम्बू द्वीपेश्वरं नृपम्।) तस्य पुत्रा बभूवुर्हिप्रजापति समौजसः; ज्येष्ठो नाभिरिति ख्यातस्तस्य...।

३. स्कन्दपुराण, 'हिमाद्रि जलधेरन्तर्नाभि खण्डमितिस्मृतम्' आया है। (१/२/३७/५५)। भागवत में 'अजनाभं नामैतद् वर्षं भारत मिति यत् आरभ्य व्यपदिशन्ति' लिखा है। (५/७/३)। महापुराण, ६२/८ भी देखिए।
४. भागवत, ११/२/२४.
५. महापुराण, १४/८१.
६. इसी चिह्न से पुरातत्त्वज्ञ मूर्तियों की पहचान करते हैं और इसी के आधार पर इन्हें सिन्धु घाटी सभ्यता में पूजित माना जाता है।
७. महाभारत, शांतिपर्व, १२/६४/२० तथा महापुराण, ४२/६.
८. महापुराण, १६/२६४.
९. भारतवर्षीय प्राचीन चरित्र कोश (सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव) में 'ऋषभ' शब्द।
१०. वसुदेवहिण्डी, प्र०खं०, पृ०८६.
११. 'हिमाद्रेर्दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत्। तस्मात्तु भारतं वर्षं वस्य नाम्ना विदुर्बुधाः॥' लिंगपुराण, ४७/२३। वायुपुराण के अनुसार इसके पूर्व इस देश का नाम 'हिमवर्ष' था।
१२. 'पाञ्चजनीं विश्वरूपदुहितरमुपयेमे, भावगत् ५/७/१, जैन शास्त्रों के अनुसार भरत की रानी का नाम सुभद्रा के परिणय की कथा पर आधारित 'सुभद्रा नाटिका' जैसी कुछ साहित्य रचना हुई है।
१३. 'भरतस्यात्मजो विद्वान् सुमतिर्नाम धार्मिकः, वायुपुराण ३१/५३ तथा 'भरताद् भारतं वर्षं भरतात् सुमतिस्त्वभूत्', अग्निपुराण १०/११। सुमति के अतिरिक्त भरत के अन्य कई पुत्रों के नाम भी मिलते हैं।
१४. कवि धनपाल रचित 'बाहुबली चरित्र'। बाहुबली के चरित्र को लेकर जैन समाज में अनेक ग्रंथों की रचना की गई है, जो पर्याप्त संख्या में उपलब्ध हैं। बाहुबली का जीवन-चरित्र, ऋषभदेव एवं भरत के चरित्रों के साथ ही सम्बद्ध है और उनके साथ वर्णित है, पर उनके चरित्र पर स्वतंत्र ग्रंथों का भी निर्माण हुआ है।
१५. भरत के पास नौ निधियाँ थीं। ये सभी चक्रवर्तियों को प्राप्त होती हैं। देखिए मायानंदि रचित शास्त्रसारसमुच्चय, पृ० ७४.
१६. आचार्य कुल भद्रकृत सारसमुच्चय - १३६.
१७. जैन साहित्य का इतिहास पूर्व पीठिका, भूमिका, पृ० ८.
१८. भारतवर्षीय प्राचीन चारित्र कोश (सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव) में 'भरत' (जड़) शब्द तथा हिन्दी विश्वकोश (नागेन्द्र नाथ वसु) खंड १५, पृ० ७३०-३१-३२.

१९. अधिकांश कोश ग्रंथों में ऐसा ही उल्लेख हुआ है। इस प्रकार के उल्लेख परम्परा विरोधी होने से अप्रमाणिक हैं। इस विषयक अन्य उल्लेख भी शुद्ध नहीं हैं, अतः अमान्य हैं।
२०. 'चक्रवर्ती' का अर्थ है, जो समुद्र से परिवृत सर्वभूमि का अधिपति हो अर्थात् सार्वभौम शासक।
२१. हलायुधकोश (हिन्दी समिति, लखनऊ) पृ० ४९०.
२२. विश्व हिन्दी कोश, खंड-१५, पृ० ७३०-३२१.
२३. इस सम्बन्ध में संस्कृत-हिन्दी कोश (आप्टे), वाचस्पत्य कोश, दी संस्कृत इंग्लिश कोश (मोनियर मोनियर विलियम्स), हिन्दी राष्ट्रभाषा कोश (इंडियन प्रेस, प्रयाग), बृहत् हिन्दी कोश (ज्ञानमंडल, काशी); संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी)
२४. या फिर मत्स्यपुराण की उक्त निरुक्ति बाद की आरोपित है। प्राचीन निरुक्ति के अनुसार भरत ही प्रजा का भरण-पोषण करने के कारण 'भरत' कहलाते थे। पुराण विमर्श (पं० बलदेव उपाध्याय), सप्तम परिच्छेद, चौखम्बा, वाराणसी।
२५. मोहनजोदाड़ों की एक सील मूर्ति पर वे अपने पिता (ऋषभ) और अब वीतरागी साधु के समक्ष अंजलिबद्ध नतमस्तक बैठे हैं, ऐसा विचार (अनुमान) किया गया है। यहाँ भरत ऋषभदेव के अध्यात्म वैभव पर विमुग्ध होकर अपने पार्थिव वैभव को अकिंचन मानते हैं, ऐसा लगता है।



जैन चिन्तन में संपोष्य विकास की अवधारणा

डॉ० पंकज कुमार शुक्ल*

डॉ० नागेन्द्र नाथ मिश्र**

संपोष्य विकास की अवधारणा बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उस समय अस्तित्व में आयी जब संसार का प्रत्येक जीवित सदस्य अपने अस्तित्व के विषय में चिन्तित हुआ। विशेष रूप से मानव, जिसमें ज्ञान और विज्ञान का प्रवाह है, विकास के बढ़ते दुष्प्रभाव से चिन्तित हुआ। उसे महसूस हुआ कि वह निरन्तर समस्याओं का गट्टर बनता जा रहा है। वह पर्यावरणीय समस्या जैसे – ओजोन परत में बढ़ता छिद्र, तेजाबी वर्षा, ग्रीन हाउस इफेक्ट, शुद्ध जल एवं वायु की समस्या, जंगलों का सफाया; सामाजिक-सांस्कृतिक समस्या जैसे – अलगावपन, असुरक्षा की भावना, धर विहीन मानस, नशाबद्ध संस्कृति, हिंसा, आतंकी गतिविधि; नैतिक व मूल्यपरक समस्या जैसे – चारित्रिक ह्रास, संवेदना का ह्रास, नैतिक मूल्यों से विलगाव इत्यादि से व्यथित था। इन समस्याओं ने विभिन्न सामाजिक और राजनीतिक चेतनाओं को सोचने पर मजबूर किया कि विकास (Development) का सही स्वरूप क्या हो? जिससे मानव जाति का अस्तित्व बना रहे। संपोष्य विकास अथवा विकास की धारणा ही एक ऐसे मूल्य और जीवन दर्शन के रूप में अस्तित्व में आयी जिससे लोगों ने राहत महसूस की।

वस्तुतः संपोष्य विकास की धारणा १९८७ में अस्तित्व में आयी। 'World Commission on Environment and Development' के द्वारा विकास पर एक सामान्य चर्चा करायी गयी और 'Our Common Future' नाम से एक रिपोर्ट तैयार की गयी। इसमें बताया गया कि संपोष्य विकास एक वैकल्पिक विकास की धारणा है। इस आयोग द्वारा इसे परिभाषित करते हुए कहा गया कि 'यह ऐसा विकास है जो वर्तमान पीढ़ी की आवश्यकता की पूर्ति, भविष्य की पीढ़ियों की आवश्यकताओं और उनकी माँगों की पूर्ति वह बिना किसी प्रयोग के करेगा।' अर्थात् यह ऐसा विकास होगा जिसमें वर्तमान पीढ़ी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति इस तरह करे कि आने वाली पीढ़ियों को भी विरासत में कुछ दिया जा सके।^३ यू०एन०डी०पी० (१९९४) के रिपोर्ट

* प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास रामदेव पी०जी० कालेज, जंगीगंज, संतरविदास नगर, भदोही

** प्रवक्ता, राजशास्त्र मड़ियाहूँ पी०जी० कालेज, मड़ियाहूँ, जौनपुर

में कहा गया कि 'यह वह विकास है जो न केवल आर्थिक संवृद्धि का पुनर्स्थान करता है; वरन् इसके लाभ का निष्पक्ष एवं न्यायपूर्ण वितरण भी करता है। यह जनता को अधिकार देता है कि वे अपनी जायज माँगों को प्राप्त करें। यह विकास में गरीबों को प्राथमिकता देता है। सामाजिक न्याय इसका आधार है। यह विकास प्रकृति-अनुकूल, स्त्री-अनुकूल एवं गरीबों और रोजगारानुकूल है।'^३

वस्तुतः इस विकास की धारणा में दो तथ्यों पर विशेष बल दिया गया है – प्रथम मानव व प्रकृति के बीच सामंजस्य स्थापित करना और द्वितीय प्रकृति बनाम प्रगति के स्थान पर प्रकृति सापेक्ष प्रगति पर बल देना। इस तरह यदि विद्वानों की माने तो यह वह विकास है जो मानव जीवन की उत्तमता को बिना पर्यावरण को हानि पहुँचाये बनाए रखता है।

इस दृष्टि से यदि हम जैन चिन्तन परम्परा में संपोष्य विकास की अवधारणा का अवगाहन करते हैं तो पाते हैं कि महावीर स्वामी ने उपभोक्तावादी जीवन को त्याग कर एक ऐसे सम्यक् जीवन जीने पर बल दिया है जिसमें मानव-प्रकृति के मध्य कोई द्वन्द्व नहीं है और न ही प्रकृति बनाम प्रगति का द्वन्द्व है। जैन चिन्तन परम्परा के जानकारों की माने तो कभी भी विकास का रास्ता समस्याग्रस्त नहीं हो सकता। महावीर स्वामी ने लोगों को सहज, सरल एवं विज्ञान सम्मत रास्ता दिखलाया है और लोगों के अहिंसात्मक जीवन जीने पर बल दिया है।

जैन परम्परा भारतीय संस्कृति का एक अनोखा पड़ाव है जहाँ सहिष्णुता, समन्वय और सह-अस्तित्व के देदीप्यमान वातावरण में मानवीय सभ्यता और संस्कृति के विकास को देखा जा सकता है। इस परम्परा में विकास का मार्ग निवृत्तिमार्गी है। अतः यह स्वीकार किया जा सकता है कि जैन परम्परा में निवृत्तिमार्गी विकासवाद की संकल्पना का विकास हुआ है। जैन परम्परा 'जिन' के अनुयायियों का धर्म है। 'जिन' का अर्थ है आध्यात्मिक विजय प्राप्त करने वाला, अर्थात् जिसने अपनी इन्द्रियों, वासनाओं तथा समस्त विकारों पर विजय प्राप्त कर ली है। इसका तात्पर्य यह है कि जैन परम्परा में भौतिक विकास को निम्नकोटि का विकास माना गया है। यहाँ तक कि उसे दुःखमूलक माना जाता है।^४ इस परम्परा के अनुसार मनुष्य का अस्तित्व निवृत्ति और आत्यन्तिक सुख त्याग में निहित है।^५ इस दृष्टि से जैन परम्परा में विकास का आधार उपनिषदीय मान्यता के सदृश 'त्याग की संस्कृति' को माना गया है। त्याग की संस्कृति के साथ अहिंसा का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

संपोष्य विकास की परिभाषा में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि अर्थोपार्जन करना ही उपयुक्त नहीं है, बल्कि उसका समान वितरण किया जाना आवश्यक है,

जिससे समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उसका समुचित लाभ मिल सके। अंतिम व्यक्ति का विकास करना ही इसका साध्य है। इस साध्य की प्राप्ति देश और समाज में शान्ति के माध्यम से ही प्राप्त की जा सकती है। शान्ति द्रोह का अभाव है। यह अहिंसा का ही एक रूप है। अर्थात् अहिंसा के साठ नामों^६ में से एक। इसके माध्यम से समाज में सुख सम्पत्ति व सुरक्षा प्राप्त की जा सकती है। सुरक्षा चाहे पर्यावरण की हो; चाहे पशु-पक्षियों की हो; चाहे नैतिकता अथवा मूल्यों की हो; चाहे व्यक्ति व अधिकारों व स्वतन्त्रता की हो; चाहे उसके स्वयं के अस्तित्व की हो, अहिंसा का विचार सभी समस्याओं के निराकरण के लिए अचूक साधन है। विकास के प्रत्येक आयामों के संदर्भ में अहिंसा प्राणत्व है। इसे आधार बनाकर जैन चिन्तन-परम्परा में संपोष्य विकास के सामाजिक, प्राकृतिक, राजनीति-आर्थिक आयामों को स्पष्ट किया जा सकता है।

प्राकृतिक आयाम

संपोष्य विकास के प्राकृतिक आयाम का सम्बन्ध भौतिक पर्यावरण से है, जिसमें वायु, जल, पृथ्वी, पशु-पक्षी, वनस्पतियों आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। ये सभी प्रकृति के अनमोल उपहार हैं। इन्हीं से प्रकृति स्थलमण्डल, जलमण्डल, और वायुमण्डल पर अपना अंकुश रखती है। जैन परम्परा के अनुसार प्रकृति की इन वस्तुओं का उपयोग त्याग के साथ किया जाना चाहिए, क्योंकि ये मानवीय जीवन के आधार हैं। जैन परम्परा में प्रकृति संरक्षण और संपोषी विकास के लिए 'परिवेश संरक्षण के सिद्धान्त' को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार परिवेश-संरक्षण के लिए पशु-पक्षियों व वनस्पतियों व जीवों को पीड़ित करना असत् कार्य है। अतः उससे बचना ही श्रेयस्कर है।^७ इस दृष्टि से जैन परम्परा में वर्णित परिवेश संरक्षण सिद्धान्त' प्रकृति संरक्षण के लिए एक ठोस आधार है।

जैन परम्परा में प्रकृति संरक्षण के लिए अहिंसा के सिद्धान्त की विशद व्याख्या की गयी है। उसके त्रस एवं स्थावर जीवों को किसी भी रूप और परिस्थिति में दुःखित न करना ही अहिंसा है।^८ उत्तराध्ययन के एक सूत्र में यह स्पष्ट किया गया है कि जो प्राणवध (वह चाहे पशु-पक्षी हों अथवा वनस्पति) का अनुमोदन करते हैं वे सभी दुःख भोगते हैं।^९ इस सूत्र के अनुसार जो भी व्यक्ति प्रकृति के संवाहक तत्त्वों, यथा - पशु-पक्षी, पेड़ जल, वायु, पर्वत, धरती आदि के शोषण की योजना बनाते हैं, अर्थात् अपनी स्वार्थपूर्ति, भौतिक उन्नति, आर्थिक विकास के लिए, प्रकृति के साथ खिलवाड़ करते हैं वे सदैव समस्या ग्रस्त रहते हैं। अतः जैन परम्परा में संपोष्य

विकास के लिए सर्वप्रथम प्रत्येक व्यक्ति को हिंसायुक्त जीवन त्यागकर प्राणीमात्र के संरक्षण की बात पर बल दिया गया है।^{१०} योगशास्त्र में कहा गया है कि प्रमाद के वशीभूत होकर त्रस (द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व पंचेन्द्रिय) अथवा स्थावर (पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पतिकाय) प्राणियों का हनन न करना अहिंसा व्रत है।^{११} आशय यह है कि संसार में जितने भी प्राणी हैं मनसा, वाचा, कर्मणा से उनकी हिंसा न करना ही अहिंसा है। जैन धर्म में पृथ्वी पानी, अग्नि तथा वायु में भी जीवन माना गया है, अतः इनके प्रति सकारात्मक भाव भी अहिंसा है।^{१२} यहाँ यह भी स्पष्ट होता है कि पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु व वनस्पति आदि मिलकर एक जैविक पर्यावरण का निर्माण करते हैं जिसमें जीव अपनी समस्त अनुक्रियाएँ सम्पन्न करता है। इस संतुलित पर्यावरण में किसी तरह की विकृति पैदा करना हिंसा है। अतः संपोष्य विकास की परिभाषा में सुव्यवस्थित पर्यावरण का निर्माण अहिंसा के माध्यम से ही किया जा सकता है। इससे ही प्रकृति व पुरुष में तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है और प्रकृति व परिवेश का संरक्षण हो सकता है, जिससे विकास को सुस्थिर, संपोष्य व टिकाऊ बनाया जा सकता है।

सामाजिक-सांस्कृतिक आयाम

जैन परम्परा में संपोष्य विकास के सामाजिक-सांस्कृतिक आयाम को उत्तराध्ययनसूत्र, कल्पसूत्र, आवश्यकचूर्ण आदि ग्रंथों में स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

जैन परम्परा की दृष्टि से सामाजिक-सांस्कृतिक आयाम में वर्ण-व्यवस्था, पारिवारिक जीवन, व्यक्ति के कर्तव्य, स्त्री महत्ता, समानता इत्यादि पर बल दिया गया है जो संपोष्य विकास की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है।

वर्ण-व्यवस्था भारतीय समाज का मेरुदण्ड है। भारतीय समाज में वर्ण अथवा जाति-व्यवस्था के पीछे एक गूढ़ रहस्य छिपा हुआ है, वह है - समरसता, पारस्परिक सौहार्द और वसुधैवकुटुम्बकम् का भाव। भारतीय समाज में जाति अथवा वर्ण-व्यवस्था को इसलिए नहीं स्वीकार किया गया है कि समाज को असंपोषी-अस्थिर और छिन्न-भिन्न करना है; बल्कि वर्ण-व्यवस्था के माध्यम से समाज में एक रूपता और पारस्परिक सहयोग की भावना को बढ़ाकर व्यक्ति को समाजपुरुष बनाना है। इस दृष्टि से जैन परम्परा में चारों वर्णों की स्थापना का आधार कर्म माना गया है।^{१३} इसके अनुसार इन चारों वर्णों की स्थापना का मुख्य आधार सामाजिक उच्चता तथा नीचता और जातिवाद नहीं है, बल्कि मानवता की उस पराकाष्ठा को प्राप्त कर लेना है

जिसमें मैं, तुम और वह में प्रतिस्पर्धात्मक प्रवृत्ति अहिंसात्मक प्रवृत्ति में बदल जाय और सम्पूर्ण समाज व्यवस्था सुचारु रूप से गति करता रहे।

जैन परम्परा की धारणा है कि समाज संचरण के लिए इन चारों वर्णों की महती भूमिका है। कर्म के आधार पर जहाँ ब्राह्मण वेदविद यज्ञार्थी, ज्योतिषांग विद्या के ज्ञाता, और धर्मशास्त्रों के पारगामी, स्वात्मा और दूसरों की आत्मा का उद्धार करने वाला, सर्वकामनाओं को पूर्ण करने वाला तथा पुण्य क्षेत्र आदि विशेषणों से अलंकृत किया गया है और उसके कार्यों को निर्धारित किया गया है,^{१४} वहीं क्षत्रिय का स्थान कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। समाज, राज्य अथवा प्रजा पर संकट आने पर रक्षण का कार्य इन्हीं के द्वारा सम्पन्न होता है।^{१५} वर्ण-व्यवस्था की तीसरी कड़ी में वैश्य का अपना अलग एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि वैश्य वर्ण का कार्य था धन-सम्पत्ति अर्जित करना और प्रजा का पालन-पोषण करना। शूद्र जिसे सामाजिक व्यवस्था की नींव कहा जाता है; को जैन परम्परा में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उत्तराध्ययनसूत्र में एक जगह यह प्रसंग आता है कि शूद्र जाति में उत्पन्न हुए लोग भी ज्ञानार्जन करके गुणी और जितेन्द्रिय बन गए। अर्थात् वे ब्राह्मण की कोटि में पहुँच गए।^{१६} इस प्रकार जैन परम्परा में वर्णित वर्ण-व्यवस्था संपोषी मानी जा सकती है।

संपोष्य समाज के लिए पारिवारिक जीवन व उसकी संपोष्यता का अपना अलग महत्त्व है। जैन परम्परा में पारिवारिक जीवन का आधार प्रेम व पारस्परिक सद्भाव माना जाता है। इस काल में परिवार का ढाँचा चाहे जो रहा हो, लेकिन इतना स्पष्ट है कि लोगों में आपसी समझ विकसित थी। कोई किसी के प्रति दुर्व्यवहार नहीं रखता और सुख-दुःख में सदैव सामूहिक उपस्थिति होती थी। आज जहाँ भोगवादी विकास ने मनुष्य को एक आयामी बनाकर उसके पारिवारिक और सामाजिक अनुबन्धों को ढीला किया है वहीं उसके मूल्यों का हास भी हुआ है। इस दृष्टि से जैन परम्परा की यह व्यवस्था संपोष्य विकास की दृष्टि से उपयोगी मानी जा सकती है।

संपोष्य विकास के लिए समाज-पुरुष की आवश्यकता होती है। यह समाजपुरुष कैसा हो? उसके क्या कर्तव्य हों? आदि का निर्धारण जैन परम्परा में देखने को मिलता है। जैन धारणा के अनुसार वह समाजपुरुष 'भिक्षु' है। उसका कार्य नैतिक अथवा पुण्य है। वह कभी भी ऐसा कर्म नहीं कर सकता जिससे उसे सर्वथा दुःख का सामना करना पड़े।^{१७}

समाज में समानता हिंसा और द्वेष से संभव नहीं है। यह तो करुणा, प्रेम, दया और अहिंसा से ही संभव है। अहिंसा के विभिन्न नामों में समता का अपना अलग

स्थान और महत्त्व है, जिसे जैन परम्परा में 'समाही' नाम से सम्बोधित किया जाता है। इससे समाज में सहभागिता, संरक्षण व संतुलन पैदा होता है। इस समानतापूर्ण अहिंसात्मक प्रवृत्ति से प्राणी में सुरक्षा का भाव पैदा होता है। इसमें इस तथ्य पर बल दिया गया है कि 'प्रत्येक आत्मा चाहे वह पृथ्वी सम्बन्धी हो, चाहे जलगत हो, चाहे आश्रम कीट-पतंगों में हो, चाहे वह पशु अथवा पक्षी में रहती हो, चाहे उसका निवास मनुष्य में हो, तात्त्विक दृष्टि से उसमें कोई भेद नहीं है।'^{१८} जैन दृष्टि का यह समाजवाद भारतीय संस्कृति के लिए गौरव की बात है। समानता के संदर्भ में दिया गया यह दृष्टिकोण जैन परम्परा में संपोष्य विकास की दृष्टि से अमूल्य है। अतः यह कहा जा सकता है कि अहिंसा सामाजिक जीवन व संपोष्य विकास की दृष्टि से एक मौलिक तत्त्व है। इस प्रकार अहिंसा केवल हिंसा न करना ही नहीं है वरन् जीने का आदर्शात्मक एवं जीवनदायी (Sustainable) आधार भी है।

जैन परम्परा में विषय त्याग का नाम ही अपरिग्रह है। इसमें लालच न करना और संतोष रखना आवश्यक है। अपरिग्रह का अर्थ आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह न करने से भी लिया जाता है। यह ऐसी पद्धति है जिसमें भोगवाद को बढ़ावा नहीं मिलता। इससे समाज में वैषम्यता भी जन्म नहीं लेती। लोग सामान्य जीवन जीते हुए विश्वशांति और सतत् विकास के मार्ग को अपनाते हैं, जो संपोष्य विकास की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण धारणा है।

राजनीतिक आयाम

राजनीतिक व्यवस्था की व्याख्या भगवतीसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र, जैन पद्यपुराण आदि में देखी जा सकती है। संपोष्य विकास की दृष्टि से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि जैन परम्परा से सम्बन्धित राजनीतिज्ञ सभ्य, और सुसंस्कृत थे। वे किसी भी रूप में 'व्यक्ति व राज्य', 'व्यक्ति व समाज', और 'व्यक्ति व प्रकृति' के बीच पारस्परिक सौहार्द को मिटाकर कटुता और वैमनस्यता का वातावरण नहीं पैदा करना चाहते थे। इस युग में ऐसी शासन प्रणालियाँ प्रचलित थीं कि उसमें प्रजा सुखी और समृद्ध थी। राजपद को धारण करने वाला व्यक्ति भोगवादी, स्वार्थी और शोषणकारी नहीं था। वह न्यायप्रिय और जनप्रिय होता था। इस प्रकार संपोष्य विकास की दृष्टि से जैन युग की शासन व्यवस्था उत्कृष्ट मानी जा सकती है।

जैन परम्परा में राजतन्त्र एवं गणतन्त्र दोनों ही प्रकार की शासन प्रणालियाँ प्रचलित थीं। इन व्यवस्थाओं में राजा ही प्रमुख था, किन्तु वह प्रजा के समस्त सुखों का ध्यान रखता था। प्रजा में दुःख-अत्याचार शोषण का नाम नहीं था।^{१९}

पद्मपुराण में मगध साम्राज्य की चर्चा मिलती है। उसमें स्पष्ट लिखा है कि “जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में मगध नाम से प्रसिद्ध एक उज्ज्वल देश पुण्यात्मा मनुष्यों का निवास स्थान है, इन्द्र की नगरी के समान जान पड़ता है और उदारतापूर्ण व्यवहार से लोगों की व्यवस्था करता है।”^{१०}

इस प्रकार के वर्णन से यह परिलक्षित होता है कि राज्य में राजा का शासन प्रजा की कल्याणकारी पद्धति पर चल रहा था और वहाँ राजतन्त्र होने पर भी प्रजा के ऊपर अत्याचार न था। राजा राजनीति में धर्मनीति का सहयोग लेकर राज-व्यवस्था चलाता था। जैन परम्परा की शिक्षा से प्रभावित होकर राजा अनैतिक अथवा पापकर्म नहीं करता था। जैन परम्परा की शासन-व्यवस्था में राजा के आचरण पर बल देते हुए कहा गया है कि वह कोई ऐसा कार्य न करे सके जिससे जनता दुःखी हो, आतंकित हो। अहिंसा उस शासन-व्यवस्था का आधार था।

इस दृष्टि से जैन परम्परा की राजनीतिक व्यवस्था संपोषी मानी जा सकती है। उसमें राजा दंभी, आचारणहीन, आतंकी, कायर व अप्रजातान्त्रिक नहीं था। वह जनता का सेवक था। उसकी शक्ति जनता में निहित थी। वह जनता का पालक था शोषक नहीं। जनप्रिय सम्प्रभुता ही उसका आधार कहा जा सकता है। वह व्यवस्था गरीबों के अनुकूल, स्त्रियों के अनुकूल, प्रकृति के अनुकूल और बच्चों के अनुकूल मानी जा सकती है। अतः जैन परम्परा की शासन-व्यवस्था पूर्णरूपेण संपोषणकारी है।

आर्थिक आयाम

जैन परम्परा में संपोष्य विकास के आर्थिक आयाम अहिंसात्मक अर्थतन्त्र पर निर्भर हैं, जिसमें सभी ऐसे आय के साधन अनुपयुक्त माने गये हैं जो हिंसक हैं। इस व्यवस्था में कोई भी व्यक्ति स्वार्थपूर्ति की दृष्टि से दूसरे व्यक्तियों को मन, कर्म तथा वचन से पीड़ित नहीं करता है, क्योंकि इस मार्ग द्वारा प्राप्त आय से व्यक्ति हिंसा और बदले की भावना, आतंक व संघर्ष का वातावरण और अकुलाहटपूर्ण जीवन की प्राप्ति करता है, जो स्वयं उसके अस्तित्व के लिए घातक हो सकता है। अतः जैन परम्परा की यह मान्यता है कि ‘धन-धान्य मृत्यु आदि पदार्थों को आवश्यकतानुसार ही त्याग के साथ ग्रहण करना चाहिए।’^{११}

इस दृष्टि से जैन परम्परा अपरिग्रह महाव्रत के माध्यम से व्यक्ति को लालच न करने व संतोष रखने का आग्रह करता है, क्योंकि उत्तराध्ययनसूत्र में यह स्पष्ट किया गया है कि जैसे-जैसे आर्थिक लाभ या विषयगत लाभ होता है, वैसे-वैसे लोभ बढ़ता है, लोभ से परिग्रह होता है,^{१२} जिससे समाज में एक के पास अतिरेक लाभ

होता है और दूसरे के पास कम। जैन परम्परा की यह भी मान्यता है कि दूसरों को अभाव में रखना भी हिंसा है, अतः हिंसायुक्त अर्थतन्त्र संपोष्य विकास के लिए घातक है। इसलिए संपोष्य विकास की दृष्टि से अपरिग्रहवृत्ति अहिंसामूलक अर्थतन्त्र का आधार है। इसी से शान्ति, सुख और संतोष की प्राप्ति संभव है। यह विश्वशांति का मार्ग भी प्रशस्त करता है।

जैन चिन्तन परम्परा में संपोष्य विकास की दृष्टि से आर्थिक आयाम के लिए 'लेश्या' की धारणा प्रासंगिक मानी जा सकती है। 'लेश्या' का सामान्य अर्थ है विचार अथवा मनोवृत्ति। अर्थात् लेश्या एक ऐसी शुभाशुभ मनोवृत्ति है जो मानवीय जीवन के समस्त पक्ष को प्रभावित करती है। इस दृष्टि से जैन धर्म में छः लेश्याओं - कृष्ण, नील, कपोत, पीत, पद्म एवं शुक्ल आदि की व्याख्या मिलती है। इसमें तीन लेश्याएँ यथा - कृष्ण, नील, कपोत, स्वार्थी, अविवेकपूर्ण, भोगपरक एवं तामसी प्रवृत्ति की होती है और अन्य तीन लेश्याएँ यथा - पीत, पद्म और शुक्ल - मानववादी, दयालु, आत्मनिग्रही, जितेन्द्रिय, मिष्टभाषी, सत्गुणी, समदर्शी और शान्त अन्तःकरण वाली होती हैं। संपोष्य विकास की दृष्टि से उत्तराध्ययनसूत्र में अन्तिम तीन लेश्याओं को जीवन में ग्रहण करने पर बल दिया गया है।^{२३} इन लेश्याओं के माध्यम से व्यक्ति त्यागमय आर्थिक-व्यवस्था की कल्पना करता है जो व्यक्तिपरक, समाजपरक और प्रकृतिपरक होता है। इन लेश्याओं से युक्त व्यक्ति गीता के स्थितप्रज्ञ के समान होता है, जो कभी असंपोष्यता का विचार पैदा नहीं कर सकता।

इस तरह जैन परम्परा का संपोष्य विकास की दृष्टि से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि जैन परम्परा आचार से अहिंसा, चिन्तन में अनेकांत, वाणी में स्यात् और समाज में अपरिग्रह के निश्कलुष प्रवर्तन का घोष करती है। सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक आयामों के अतिरिक्त प्राकृतिक आयामों की जैन परम्परा में विशद विवेचना से समस्त असंपोष्य वातावरण को संपोष्य बनाया जा सकता है।

सन्दर्भ

1. W.C.E.D. (World Convention on Environment Development), 1987
2. K.P. Geeth Krishnan 'Sustainable Development in operation in Malcolm S. Adisesrhio (ed) Sustainable Development : Its contains, Scope, and Prices - Lass Car International, New Delhi-1990. Page-7

3. UN D.P. 1994 (Sustainable Human development; from concept to operation, New York, P-4.
४. उत्तराध्ययनसूत्र, १३.६.१७.
५. सूत्रकृतांगसूत्र, जिल्द-२, पृ० ३०१, जैकोबी)
६. जैन परम्परा में वर्णित अहिंसा के साठ नामों की व्याख्या मिलती है, परन्तु सभी का उल्लेख संपोष्य विकास की दृष्टि से उपयुक्त नहीं है जिन नामों को संपोष्य विकास के लिए उपयोगी माना जा सकता है वे हैं : निव्वुई (निवृत्ति), समाही (समता), सन्ती (शान्ति), कंती (प्रसन्नता), तित्ती (तृप्ति), दया (प्राणि-रक्षा), समिद्धी (समृद्धि) विद्धि (वृद्धि), भद्धा (भद्र), विसुद्धी (विशुद्ध), पमोअ (प्रमोद), रक्खा (रक्षा), संजम (संयम), गुत्ती (गुप्ति) जन्न (यज्ञ), वीरवाअ (विश्वास) इत्यादि। सिन्हा, बशिष्ठ नारायण, जैनधर्म में अहिंसा, सोहन लाल जैन धर्म प्रचारक समिति- गुरुबाजार, अमृतसर, १९७२, पृ० २७३.
७. दशवैकालिकसूत्र ६.८.
८. जैन, सुदर्शन लाल, उत्तराध्ययनसूत्र : एक परिशीलन, सोहन लाल जैन, धर्म प्राचारक समिति, वाराणसी, १९७०, पृ० २६१.
९. 'नहु पाणवह अणुजाणे मुच्चेज्ज कयाइ सव्व दुक्खाण' उत्तराध्ययनसूत्र - ८/८.
१०. अज्झत्य सव्वओं सव्वं दिस्स पाणे पियायए।
नहणे पणिषो पाणे भय वेराओं उवरए।। उत्तराध्ययनसूत्र - ६/७, १३/२६.
११. न यत्प्रमादयोगेन जीवित व्यपरोपणम।
त्रसानां स्थावराणां तद् हिंसा व्रतं मतम।। योगशास्त्र, सम्पा०-आचार्य हेमचन्द्र ऋषभचन्द्र जौहरी, किशन लाल जैन, दिल्ली १९६३ श्लोक- २, पृ० १०.
१२. सिन्हा, बशिष्ठ नारायण, जैनधर्म में अहिंसा, सोहन लाल जैन धर्म प्रचारक समिति- गुरुबाजार, अमृतसर, १९७२, पृ० २७३.
१३. उत्तराध्ययनसूत्र २५/३३.
१४. वही, २५/७-८, १२/१२.
१५. वही, १४/३.

४६ : श्रमण, वर्ष ५९, अंक ४/अक्टूबर-दिसम्बर २००८

१६. सोवागकुलसभूओ गुणुत्तरधरोमुणी।।

हरि एसबलोनाम आसि भिक्खू जिइन्दिओ।। वही, २१/२.

१७. जैन सुदर्शनलाल, उत्तराध्ययनसूत्र : एक परिशीलन, पृष्ठ -
४०१.

१८. मेहता, कुमारी मंजुला, 'जैनधर्म की प्राचीनता और विशेषता'
श्रमण, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, जैन इंस्टिट्यूट, वाराणसी,
१९७३, अंक-५, पृ० १३.

१९. घिल्डियाल, अच्युतानन्द, प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचारक,
प्रका०-विवेक घिल्डियाल बन्धु, सिगरा, वाराणसी १९७२, पृ० २२१.

२०. क. जैन पद्मपुराण - प्रथम भाग - द्वितीय पर्व - श्लोक, १-२.

ख. जैन, सुदर्शन लाल, उत्तराध्ययनसूत्र : एक परिशीलन, पृ०
२७८.

२२. उत्तराध्ययनसूत्र - १०/३२.

२३. वही ३४/७, ५६, ५७.



जैन साहित्य में श्रमिकों की दशा

डॉ० रघुवर दयाल सिंह*

मानव जीवन का अस्तित्व श्रम पर आधारित है। श्रम के वगैर हम सभ्यता की परिकल्पना तक नहीं कर सकते। प्राचीन काल से श्रम सदैव ही सस्ता और सहजता से उपलब्ध होने वाला उत्पादन का एक प्रमुख साधन रहा है। प्राचीन काल में भी आधुनिक काल की भाँति शारीरिक श्रमिकों की अत्यधिकता थी। श्रमिक कृषि और कुटीर उद्योग के क्षेत्र में अपना उल्लेखनीय योगदान देते थे। पाणिनि ने 'अष्टाध्यायी' में स्पष्ट वर्णन किया है कि शिल्प-विशेष न जानने वाले मात्र शारीरिक श्रम करने वाले साधारण अकुशल श्रमिक को कर्मकर और उसके पारिश्रमिक को 'भृत्ति' तथा शिल्पज्ञाता को 'शिल्पी' या 'कारि' कहा जाता था और उनके भृत्ति को 'वेतन' कहा जाता था।^१ डॉ० कमल जैन के अनुसार खेत में काम करने वाले मजदूर आदि को 'अकुशल' मजदूर की श्रेणी में रखा जाता था तथा शिल्पकारों को कुशल एवं दक्ष श्रमिकों की कोटि में। इनके अतिरिक्त कुछ अधिकारी, आचार्य, अध्यक्ष, वैद्य आदि भी थे जिनकी गणना न तो शिल्पियों में की जाती थी और न श्रमिकों में।^२

श्रमिकों को श्रम के बदले कुल उत्पादन का कुछ अंश ही प्राप्त होता था। ऐसा वर्णन मिलता है कि हल चलाने वाले श्रमिक को पारिश्रमिक के रूप में केवल भोजन ही दिया जाता था, वह भी उसकी कार्यक्षमता के आधार पर निर्धारित किया जाता था।^३

कौटिल्य के अनुसार बटाई पर खेती करने वाले किसान को भागलगा कहा जाता था। वे शर्तानुसार कृषि कार्य करते थे और कुल उत्पादन का निर्धारित अंश अपने पास रखकर शेष भूपति को सौंप देते थे। जो कृषक राजकीय भूमि पर कार्य करते थे उन्हें उत्पादन का आधा भाग प्राप्त होता था। जो कृषक कृषि उपकरण एवं बीज राज्य की ओर से प्राप्त करते थे उन्हें उपज का चौथा या पाँचवाँ भाग प्राप्त होता था।^४

भूमिहीन किसान, श्रमिक, कर्मकर को भृत्ति देते समय इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता था कि भृत्ति से श्रमिकों के परिवारों का भरण-पोषण हो सके। श्रम के अनुपात में कम भृत्ति देने वाला पापी माना जाता था। कौटिल्य ने भी इस बात का

* द्वारा- श्री एस० एन० सिंह, पी० ४, बी० ६, महामनापुरी, वाराणसी।

अनुमोदन किया है कि श्रमिक का वेतन इतना होना चाहिए कि उससे उसका और उसके परिवार का भरण-पोषण भलीभाँति हो सके।^{१६} शुक्रीति में उत्तम, मध्यम और अधम इन तीन प्रकार के वेतनमानों का उल्लेख मिलता है। उत्तम वेतनमान वह है जिसमें श्रमिक के सम्पूर्ण परिवार का भरण-पोषण हो सके। मध्यम वेतनमान वह है जिसमें उसकी मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। अधम वेतनमान वह है जिसमें मात्र एक ही व्यक्ति का भरण-पोषण हो सके। वेतन निर्धारण भी तीन प्रकार से किया जाता था- प्रथम 'कार्यमाना' अर्थात् कार्य के अनुसार, द्वितीय 'कालमाना' अर्थात् समय के अनुसार और तृतीय 'कार्यकाला' अर्थात् कार्य और समय दोनों के अनुसार दी जाने वाली भृत्ति।^{१७} कुशलता से कार्य करने वाले श्रमिक को अन्य श्रमिकों की अपेक्षा अधिक वेतन का भुगतान किया जाता था। निम्नतम वेतन ६० पण और अधिकतम ४८०० पण वार्षिक दिया जाता था।^{१८} एक पण ताँबे के उस सिक्के को कहा जाता था जो ८० कौड़ियों के बराबर होता था। डॉ० कमल जैन ने शुक्रीति के आधार पर श्रमिकों को तीन भागों में विभाजित किया है-दिवसभयगो, उच्चतभयगो, और कवलभयगो। दिवसभयगो कालानुसार दैनिक वेतन पर काम करते थे और इनके भृत्ति का भुगतान संध्याकाल में कर दिया जाता था जिससे ये आवश्यक खाद्य सामग्री खरीद सकें। उच्चतभयगो श्रमिकों के वेतन का भुगतान एक निश्चित समय तक कार्य करने के पश्चात् ही किया जाता था और ठेके पर कार्य करने वाले उन्हें कवलभयगो श्रमिक कहलाते थे।^{१९} यदि हम जैन साहित्य पिण्डनिर्युक्ति को देखें तो वहाँ भी पारिश्रमिक को आधार बनाकर श्रमिक को तीन भागों में विभाजित किया गया है।^{२०} भुगतान के तीन रूप इस प्रकार हैं- नकद, मात्र भोजन तथा नगद और भोजन। उदाहरणार्थ- राजगिरि के नन्दमणिकार ने अपनी पुष्करिणी पर लोकहित हेतु चिकित्सालय, अनाथालय और भोजनालय बनवाये जिसमें नियुक्त कर्मचारियों को नकद भृत्ति और भोजन दिया जाता था।^{२१} सकडालपुत्र कुम्हार ने अपनी ५०० बर्तन की दुकानों पर भोजन और वेतनमान पर कर्मचारियों की नियुक्ति किया था।^{२२} इसी प्रकार हलधारक कृषक श्रमिकों को उनके कुशलता के अनुसार भोजन प्रदान करता था।^{२३} वैदिक साहित्य में उल्लेख है कि १० गायों का पालन करने वाले ग्वाल को एक गाय का दूध भृत्ति के रूप में दिया जाता था।^{२४}

जैन साहित्य में उच्च अधिकारियों द्वारा श्रमिकों को कभी-कभी पर्याप्त वेतन भुगतान नहीं करने के उदाहरण भी प्राप्त होते हैं। 'व्यवहारभाष्य' में वर्णन मिलता है कि एक अमात्य भवन निर्माण करवा रहा था। धन के लोभ से प्रेरित हो वह श्रमिकों को कम वेतन देता था व अपमानित करता था, अनुचित और कठोर काम करवाता था, उन्हें विश्राम हेतु समय नहीं देता था, उन्हें पर्याप्त आहार नहीं देता था, क्षुब्ध हो

श्रमिकों ने भवन को अपूर्ण छोड़ दिया और वहाँ से पलायित हो गये। जब राजा को इस तथ्य की जानकारी मिली तो उसने मंत्री को पदच्युत कर दिया और उसके सम्पूर्ण सम्पत्ति को जब्त कर उसे दंडित भी किया।^{१४} जैन धर्म में श्रमिकों के शोषण, आश्रितों के भोजन-पानी का विच्छेद और उनकी क्षमता से अधिक कार्य लेना, श्रावक के प्रथम अहिंसा अणुव्रत का अतिचार माना गया है।

इस प्रकार जैन साहित्य प्राचीन भारतीय सामाजिक और आर्थिक संरचना के वृहद् एवं विस्तृत आयाम प्रस्तुत करते हैं। लेकिन सत्यता यही है कि प्राचीन भारत के सामाजिक संगठन के आधार पर ही आर्थिक-व्यवस्था का निर्माण हुआ जिसमें सवर्णों को सामाजिक और आर्थिक सोपान के शिखर पर रखा गया और वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत बहुसंख्यक निम्नवर्ग के भाग्य में सदियों-सदियों के लिए घोर परिश्रम, अपर्याप्त वेतन, अपमान और भूख लिख दिया गया। अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान काल की विकासोन्मुख व्यवस्था प्राचीन कालीन जड़पूर्ण व्यवस्था से संघर्षरत है। पूँजीवाद एक स्वभाव है। जिसमें स्वाभाविक स्वेच्छाचारिता पर कठोर अंकुश न होने के फलस्वरूप भारतीय समाज भी सर्वहारा वर्ग और सम्पन्न वर्ग-विभाजन की ओर अग्रसर हो गया। सम्पन्न वर्ग द्वारा मजदूर शोषण के शिकार बने। उत्पादन और वितरण व्यवस्था समुचित न होने के कारण समाज में घोर आर्थिक विषमता व्याप्त हो गई। इस सामाजिक और आर्थिक विषमता के विरुद्ध प्राचीन काल में भी संघर्ष की स्थिति थी और आज भी है। वर्तमान नक्सलवाद का भी जन्म प्राचीन काल में ही हो चुका था। धना सार्थवाह का दास अत्यधिक शोषण के खिलाफ घर से पलायित हो गया और चोरी, अपहरण जैसे कार्यों में लिप्त हो गया। यह सत्य है कि घोर आर्थिक शोषण के विरुद्ध नक्सलवादी प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव होने लगा था। ऐसा प्रतीत होता है इन्हीं शोषणों के विरुद्ध ई० पू० छठी शताब्दी में एक नवीन सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक क्रांति हुई जिसे हम जैन धर्म और बौद्ध धर्म के नाम से जानते हैं। दोनों धर्मों के माध्यम से एक नवीन सामाजिक और आर्थिक संरचना का आह्वान किया गया। सदियों से चली आ रही जर्जर, असमान एवं आडम्बरयुक्त व्यवस्था को चुनौती दी गयी और 'कर्म' और 'श्रम' को इतिहास में पहली बार महत्त्व प्रदान किया गया।

जैन साहित्य में श्रमिक वर्ग के कल्याण हेतु अनेक विधान किये गये हैं। श्रमिक के आश्रितों को भोजन और उचित भृत्ति न देना अहिंसा अणुव्रत का अतिक्रमण माना जाता है। दूसरी ओर 'अस्तेय अणुव्रत' श्रमिक वर्ग को न्यायपूर्ण और उचित भाग की प्राप्ति के लिए प्रेरित करता है। 'अपरिग्रह' धन के प्रति लोभ और उसके संग्रह को हतोत्साहित करता है तथा अतिरिक्त सम्पत्ति को जनकल्याण हेतु वितरित करने के लिए लोगों को प्रेरित करता है। निःसंदेह यह सिद्धांत आज की समाजवादी अर्थ-

५० : श्रमण, वर्ष ५९, अंक ४/अक्टूबर-दिसम्बर २००८

व्यवस्था की ओर संकेत करता है और उपभोक्तावादी संस्कृति को चुनौती देता है। भगवान् महावीर ने समानता के इस शाश्वत सिद्धांत को मानव की मुक्ति के साथ जोड़ कर अल्पपरिग्रही समाज की नींव डाली। अतः कहा जा सकता है कि जैन धर्म के माध्यम से समाज में समान आर्थिक आदर्श की स्थापना की जा सकती है।

सन्दर्भ :

१. पाणिनि, अष्टाध्यायी, १/२/२२, ३/१/२६.
२. जैन, डॉ० कमल, प्राचीन जैन साहित्य में वर्णित आर्थिक जीवन, पृ०-२०
३. पिंडनिर्युक्ति, गाथा ३८४.
उत्तराध्ययनचूर्ण, गाथा ११८.
४. कौटिल्य, अर्थशास्त्र, २/२४/४१.
५. वही, ५/३/९१.
६. शुक्रनीति- २/३९५.
७. कौटिल्य, अर्थशास्त्र, ५/३/९१
८. जैन, डॉ० कमल, प्राचीन जैन साहित्य में वर्णित आर्थिक जीवन, पृ०-१५०
९. पिण्डनिर्युक्ति, ४०५
१०. ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र, १३/२०-२३
११. बृहत्कल्पभाष्य, भाग २, गाथा १९६८-१९७०
१२. पिंडनिर्युक्ति, ३८४
१३. मनुस्मृति, ८/२३१
१४. व्यवहारभाष्य, ८/३१०



उत्तरी मध्यप्रदेश में जैन धर्म : १०वीं से १३वीं शताब्दी ई० तक

(अभिलेखीय साक्ष्यों के विशेष सन्दर्भ में)

यशवन्त सिंह*

उत्तरी मध्यप्रदेश के अंतर्गत आने वाले ग्वालियर तथा चम्बल सम्भागों के आठ जिलों ग्वालियर, दतिया, शिवपुरी, गुना, अशोकनगर, मुरैना, भिण्ड, श्योपुर के क्षेत्र का पुरातात्त्विक साक्ष्यों की उपलब्धता के आधार पर धार्मिक दृष्टि से प्राचीन भारतीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इस क्षेत्र में विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के साथ-साथ जैन धर्म से सम्बन्धित साक्ष्यों की भी प्राप्ति होती है। जैन धर्म विशेष रूप से समता, अहिंसा एवं सम्यक्-संकल्प पर बल देने वाला एक प्राचीन धर्म है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ (आदिनाथ) को इस धर्म के प्रवर्तक माना जाता है। जैन धर्म के व्यवस्थित एवं सुनियोजित दार्शनिक स्वरूप का विकास २४वें तीर्थंकर भगवान् महावीर के निर्देशन में हुआ।

पुरातात्त्विक साक्ष्यों में अभिलेखों को प्रामाणिक व ठोस आधार प्रदान करने वाले स्रोत के रूप में महत्त्व प्राप्त है। १०वीं शताब्दी ई० से १३वीं शताब्दी ई० के मध्य उत्तरी मध्यप्रदेश से प्राप्त होने वाले अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर इस क्षेत्र में जैन धर्म व उसके अनुयायियों की विद्यमानता की जानकारी प्राप्त होती है। इस काल के मध्य मध्यप्रदेश के उपर्युक्त क्षेत्रों में जैन धर्म में आस्था रखने वाले श्रावकों के द्वारा विभिन्न जैन धर्मायतनों का निर्माण करवाया गया जो प्रतिमाओं के आयागपट्टों (प्रतिमा के आसनों/पादपीठों), स्तम्भों, भित्तियों, शिलाओं आदि पर प्रतिष्ठाकाल तथा प्रतिष्ठा करवाने वाले श्रावकों के उत्कीर्ण नामों से स्पष्ट होता है। चेत (ग्वालियर), सिहोनियाँ (मुरैना), नरवर (शिवपुरी), पचरई (शिवपुरी), भीमपुर (शिवपुरी), गुडार 'या' गुडर (शिवपुरी), सोनागिर (दतिया), सिनावल (दतिया), दूबकुण्ड (श्योपुर), रदेव (श्योपुर), ध्नेचा 'या' ध्नेच (श्योपुर) बजरंगगढ़ (गुना), चन्देरी (अशोकनगर), बूढ़ी चन्देरी (अशोकनगर), कदवाहा (अशोकनगर) आदि स्थलों से प्राप्त जैन लेखों

* शोध छात्र, प्रा०भा०इ०सं० एवं पुरातत्त्व अध्ययनशाला, जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर (म०प्र०)

से यहाँ जैन धर्म की सुदृढ़ता का अनुमान लगाया जा सकता है। कुछ महत्त्वपूर्ण जैन अभिलेखों से सम्बन्धित सूचनाएँ इस प्रकार हैं -

वि०सं० १०३४ (१७७ ई०) के सिहोनियाँ अर्हत प्रतिमा लेख^१ में श्री वज्रदाम का उल्लेख मिलता है। इस वज्रदाम की पहचान ग्वालियर की कच्छपघात शाखा के शासक वज्रदामन के रूप में की जाती है। सम्भवतः इस जैन प्रतिमा की प्रतिष्ठापना वज्रदाम द्वारा करवायी गयी थी। ग्वालियर की कच्छपघात शाखा के ही रत्नपाल नामक शासक के उल्लेखयुक्त ग्वालियर दुर्ग से प्राप्त खण्डित व तिथि रहित एक शिलालेख^२ का प्रारम्भ 'सिद्धम् चन्द्रप्रभस्य वदनां वुरूह जयत्य' के साथ होता है। इस अभिलेख में पत्थर (शैल) की एक अर्हत मूर्ति का भी उल्लेख है। सम्भवतः यह अभिलेख जैन धर्म के किसी धार्मिक कृत्य से सम्बन्धित रहा होगा।

वि०सं० ११२२ (१०६५ ई०) के पचरई शान्तिनाथ मन्दिर शिलालेख^३ में सीयडोणी-चन्देरी-थूबोन-कदवाहा-पचरई व उसके समीपवर्ती क्षेत्रों में शासनरत परवर्ती प्रतीहार शाखा के हरिराज, भीम, रणमल (रणपाल) का उल्लेख हुआ है। इस लेख में दो गोष्ठिकों का भी उल्लेख मिलता है। गोष्ठिक प्रबन्ध-समिति का एक सदस्य होता था। ये प्रबन्ध-समितियाँ मन्दिर निर्माण व अन्य धार्मिक कार्यों से सम्बन्धित होती थीं। सम्भवतः परवर्ती प्रतीहार शासक रणपाल के समय पचरई के इस शान्तिनाथ मन्दिर का निर्माण हुआ होगा।

वि०सं० ११४५ (१०८८ ई०) के दूबकुण्ड ध्वस्त जैन मन्दिर से प्राप्त शिलालेख^४ में एक जैन मन्दिर के निर्माण में दूबकुण्ड शाखा के कच्छपघात शासक विक्रमसिंह द्वारा सहयोग करने की जानकारी मिलती है। इस लेख में उनके द्वारा जैन मन्दिर की व्यवस्था व पूजन संस्कार के सुचारु रूप से निष्पादन हेतु मन्दिर को जमीन दान देने और प्रजा पर कर लगाने आदि का उल्लेख मिलता है। शिलालेख का प्रारम्भ 'ओं नमो वीतरागाय' तथा जैन तीर्थकरों ऋषभस्वामी (अर्थात् ऋषभनाथ), शान्तिनाथ, चन्द्रप्रभ, जिन (अर्थात् महावीर) व सु(श्रु)तदेवी (वाक्-पटुता और विद्या की देवी) की स्तुति से होता है। इस लेख में जैन धर्म में आस्था रखने वाले श्रद्धालुओं व श्रेष्ठियों का परिवार सहित उल्लेख मिलता है। साथ ही कुछ गोष्ठिकों व 'वणिक वंश' का भी उल्लेख आया है। सम्भवतः लेख में उल्लेखित श्रद्धालुओं, श्रेष्ठियों, गोष्ठिकों ने इस जैन मन्दिर के निर्माण में सहयोग किया रहा होगा।

वि०सं० १३१९ (१२६२ ई०) के यज्वपाल शासक आसल्लदेव के समय के भीमपुर शिलालेख^५ में उसके एक अधिकारी जैत्रसिंह द्वारा एक जैन मन्दिर निर्माण करवाने का उल्लेख मिलता है। इस अभिलेख का प्रारम्भ आदिदेव (आदिनाथ), पार्श्वप्रभु (पार्श्वनाथ), महावीर आदि तीर्थकरों तथा शारदा (सरस्वती) व दिगम्बर

मुनियों की स्तुति से होता है। शिलालेख में जैन मन्दिर के निर्माण में सहयोग करने वाले जैन श्रद्धालुओं, श्रेष्ठियों व गोष्ठिकों का परिवार सहित विवरण मिलता है। लेख में जैन मुनियों व गुरुओं, मन्दिर में पूजन संस्कार व प्रतिष्ठापना कार्य का निष्पादन करवाने वालों का भी उल्लेख हुआ है। इस शिलालेख में देवगुप्त नामक व्यक्ति को 'श्वेताम्बर कुल' का कहा गया है।

जैन धर्म से सम्बन्धित 'दिगम्बर' शब्द का उल्लेख ग्वालियर शाखा के कच्छपघात शासक महीपाल के वि०सं० ११५० (१०९३ ई०) के सास-बहू मन्दिर शिलालेख (ग्वालियर दुर्ग) में हुआ है। इस शिलालेख को यशोदेव नामक दिगम्बर (दिग्वराकर्कः) द्वारा लिखा बताया गया है। ग्वालियर दुर्ग से ही प्राप्त वि०सं० ११६१ (११०४ ई०) के एक अन्य शिलालेख की रचना 'निर्ग्रथनाथ मुनि यशोदेव' द्वारा करने की सूचना भी प्राप्त होती है। सम्भवतः वि०सं० ११५० (१०९३ ई०) व वि०सं० ११६१ (११०४ ई०) के दोनों शिलालेखों में उल्लेखित यशोदेव एक ही व्यक्ति हैं, ऐसा कहा जा सकता है।

जैन अभिलेखों में गुरु-शिष्य परम्परा के भी उल्लेख मिलते हैं जिन्होंने इस क्षेत्र में जैन धर्म के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। अभिलेखों में जैन मुनियों के लिए गुरु, मुनि, महामुनि, महाचार्य, सूरि, पण्डिताचार्य आदि विरुद व्यवहृत हुए हैं। वि०सं० ११२२ (१०६५ ई०) के पचरई शान्तिनाथ मन्दिर शिलालेख में श्री (आचार्य) कुन्दकुन्द की वंशपरम्परा के देशीय नामक गण में शुभनन्दि गुरु के शिष्य आचार्य लीलचन्द्र का, वि०सं० ११४५ (१०८८ ई०) के दूबकुण्ड जैन मन्दिर शिलालेख में लाटवागटगण के गुरु देवसेन, उनके शिष्य कुलभूषण, कुलभूषण के शिष्य दुर्लभसेन सूरि, दुर्लभसेन के शिष्य शांतिसेन गुरु व उनके शिष्य विजयकीर्ति का, वि०सं० ११५२ (१०९५ ई०) के दूबकुण्ड से प्राप्त एक अन्य अभिलेख में काष्ठासंधी महाचार्य श्री देवसेन का, वि०सं० ११८२ (११२५ ई०) के चेत से प्राप्त स्तम्भ लेख में विजयसेन का तथा वि०सं० १२१० (११५३ ई०) के पचरई मंदिर भित्ति शिलालेख में देशीयगण के पण्डिताचार्य श्रुतकीर्ति, पण्डिताचार्य वीतचन्द्र, आचार्य शुभनन्दि व लीलचन्द्र सूरि, आदि का उल्लेख मिलता है।

उपरोक्त अभिलेखों के अतिरिक्त बजरंगगढ़ से प्राप्त वि०सं० १२०६ (११४९ ई०) के अर्हत् प्रतिमालेख, वि०सं० १२१५ (११५८ ई०) के पद्मप्रभ प्रतिमालेख व वि०सं० १२५० (११९३ ई०) के नेमिनाथ प्रतिमालेख तथा वि०सं० १३२९ (१२७२ ई०) के नरवर अर्हत् प्रतिमालेख व वि०सं० १३४३ (१२८६ ई०) के ग्वालियर पार्श्वनाथ प्रतिमालेख, आदि में भी प्रतिमा को प्रतिष्ठापित करवाने वाले एवं दान देने

५४ : श्रमण, वर्ष ५९, अंक ४/अक्टूबर-दिसम्बर २००८

वाले श्रावकों का परिवार के वंशवृक्ष सहित (जैसे - माता-पिता, पुत्र-पुत्रवधु, पौत्र-पौत्रवधु, प्रपौत्र आदि) उल्लेख मिलता है।^{११}

इस प्रकार उपरोक्त अभिलेखीय सूचनाओं के विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि १०वीं शताब्दी ई० से १३वीं शताब्दी ई० के मध्य उत्तरी मध्यप्रदेश के क्षेत्र में जैन धर्म के विकास में कच्छपघात, परवर्ती प्रतीहार तथा यज्वपाल शासकों के अलावा उनके राज्याधिकारियों, श्रेष्ठियों (व्यापारियों), गोष्ठिकों व अन्य जैन श्रावकों ने महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया। इन अभिलेखों के तथ्यों से यह भी ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र में जैन धर्म की शिक्षाओं का प्रभाव मुख्यतः व्यवसायिक कार्यों में संलग्न रहने वाले 'वैश्यों' अथवा 'वणिकों' पर पड़ा।

सन्दर्भ :

१. जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, जिल्द - XXXI, पृ० ३९३.
२. सिंह, ए०के० : (१९९३-९४), ए कच्छपघात इन्सक्रिप्सन् फ्रॉम ग्वालियर, भारती, जिल्द - XX, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, पृ० ११३-११६.
३. द्विवेदी, हरिहरनिवास : (वि०सं० २००४), ग्वालियर राज्य के अभिलेख, ग्वालियर, संख्या - ४५, विलिस, माइकेल डी० : (१९९६), इन्सक्रिप्सन्स ऑफ गोपक्षेत्र, लन्दन, पृ० ५.
४. एपिग्राफिया इण्डिका : जिल्द-II, नई दिल्ली, पृ० २३२-४०.
५. कॉर्पस इन्सक्रिप्सन्म् इण्डिकेरमः, जिल्द - VII, भाग - III, नई दिल्ली, पृ० ५६१-५६८.
६. इण्डियन एपिटक्वेरी : जिल्द - XV, दिल्ली, पृ० ३३-४६.
७. इ०ए० : जिल्द - XV, दिल्ली, पृ० २०१-२०३.
८. द्विवेदी, हरिहरनिवास : ग्वालियरराज्यकेअभिलेख, संख्या-५८, विलिस, माइकेल डी० : वही, पृ०६.
९. वही, संख्या-६६, विलिस, माइकेल डी० : वही, पृ० ७.
१०. वही, संख्या-७३, विलिस, माइकेल डी० : वही, पृ० ८.
११. जैन, कस्तूरचन्द्र : (२००१), भारतीय दिगम्बर जैन अभिलेख और तीर्थ परिचय - मध्यप्रदेश, १३वीं शती तक', दिल्ली, पुस्तक में निहित जानकारी के आधार पर।



विश्वशांति और अहिंसा : एक विश्लेषण

डॉ० मुक्तेश्वर नारायण सिंह*

मानव स्वभाव से शांतिप्रिय है। मानव अपने विकास के आदिकाल में अकेला था, वैयक्तिक सुख-दुःख की सीमा से घिरा हुआ, एक जंगली जानवर की भाँति। उसमें मानव चेतना का विकास नहीं हुआ था। लेकिन एक दिन वह भी आया जब उसमें चेतना का विकास हुआ और दूसरों के विषय में भी सोचना प्रारम्भ किया। साथ ही उसमें स्वार्थ और परार्थ की भावना भी विकसित हुई। स्वार्थ ने अशांति को जन्म दिया तो परार्थ ने शान्ति को। आज स्वार्थ पराकाष्ठा पर है, फलतः समाज व राष्ट्र में अशांति व्याप्त है। आज व्यक्ति के समक्ष मात्र भोजन और वस्त्र की ही समस्या नहीं है, बल्कि भौतिक आवश्यकताएँ इतनी अधिक बढ़ गई हैं कि उनकी पूर्ति व्यक्ति अहर्निश व्यस्त रहकर भी नहीं कर पा रहा है। असन्तोष और अधिकार लिप्सा न केवल वैयक्तिक, बल्कि सामाजिक व राष्ट्रीय स्तर पर भी देखी जा रही है। संघर्ष और अशांति का ताण्डव आज वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय स्तर पर विद्यमान है। धर्म के नाम पर साम्प्रदायिकता, साहस के नाम पर झगड़ालु प्रवृत्ति, प्रामाणिकता के नाम पर आडम्बर, सत्य के नाम पर कूटनीति, सामाजिकता के नाम पर वर्गवादिता आज चारों ओर दृष्टिगोचर होती हैं। जहाँ तक अशांति की बात है तो आर्थिक अशांति के मूल में धन की असमानता है, तो राजनैतिक अशांति के मूल में आर्थिक अशांति और औपनिवेशिक समस्याएँ हैं। इसी प्रकार धार्मिक अशांति के मूल में प्रतीकों का बोलबाला है। इनके अतिरिक्त और भी अशांति के कारण हैं, जैसे- व्यक्तिवाद और समाजवाद का संघर्ष, शोषक और शोषित का वर्गभेद, असन्तोष की भावना, अनैतिकता, इच्छाओं की अत्यधिक व अनुचित वृद्धि आदि।

भारतीय संस्कृति वसुधैवकुटुम्बकम् की संस्कृति है। कहा भी गया है-

अयं निजः परोवेति गणना लघु-चेतसाम् ।

उदारचरितानां तु वसुधैवकुटुम्बकम् ॥

वसुधैवकुटुम्बकम् के इस कलेवर को व्यक्ति ने जैसे ही उतारा कि अशांति की जागृति हुई, स्वार्थ ने पाँव फैलाया और वही मानव की नियति बन गई। भारतीय

* प्राचार्य, ए०बी०एस० महाविद्यालय, लालगंज, वैशाली।

संस्कृति में जहाँ दया और करुणा का, पवित्र मानवता का इतना उच्च विकास हुआ है, वहीं मानव आज स्वार्थी और इच्छाओं का दास बना हुआ है। अपने स्वार्थ के लिए दूसरों के प्राणों से खेल रहा है। जब तक वासना और विकार के बन्धन व स्वार्थ की बेड़ियाँ नहीं टूटेंगी तब तक शांति की बात करना कोई माने नहीं रखता है। क्योंकि व्यक्ति से परिवार, परिवार से समाज, समाज से राष्ट्र और राष्ट्र से विश्व बनता है। इस प्रकार सबके मूल में व्यक्ति ही है, अतः व्यक्ति में जब शांति का वास होगा तभी स्वभावतः विश्व में शांति-व्यवस्था बनेगी।

आज विश्व जितना व्याकुल विश्वशांति के लिए है संभवतः उतना व्याकुल कभी नहीं था। पहले जीवन था, जिजीविषा थी, जीवन व्यवहार था, चारित्र था, समभाव था। आज विश्व विषमभाव में व्याप्त है, क्षणिक व्यामोह में फँसा हुआ है, ऐसी स्थिति में जब अहिंसा और शांति के घटक सत्पथ पर अग्रसर होंगे तब जाकर शांतिपूर्ण समाज की स्थापना हो सकती है।

अहिंसा का मार्ग ही है जिस पर चलकर मानवीय समस्या का शांतिपूर्ण हल ढूँढा जा सकता है। अहिंसा एक विधायक शक्ति है जिसके समक्ष बड़े से बड़ा हिंसात्मक व्यक्तित्व भी धराशायी हुआ है। अहिंसा, संयम और शांति के सम्बन्ध में आचार्य तुलसी ने कहा है- विश्वशांति और व्यक्ति की शांति दो वस्तुएँ नहीं हैं। अशांति का मूल कारण अनियंत्रित लालसा है। लालसा से, संग्रह से शोषण की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। व्यक्ति या विश्व जो भी शांति चाहता है उसे इन मूल कारणों से बचना होगा।..... शांति के लिए ऐसे अहिंसक समाज का निर्माण अपेक्षित है, जिसमें जीवन का प्रवाह चलता रहे और आक्रमण का शोषण न हो। संकल्पपूर्वक होने वाली हिंसा मिट जाए। अहिंसा अभय है, इसलिए कायरता और कमजोरी से इसका कोई अभिप्राय नहीं। अहिंसा और कायरता का ३६ का सम्बन्ध है।^१

वस्तुतः आज शांति के जितने भी प्रयत्न किये जा रहे हैं वे स्वार्थ की चादर ओढ़कर किये जा रहे हैं यही कारण है कि अब तक शांति के जितने भी प्रयास हुए हैं वे निरर्थक ही सिद्ध हुए हैं। आज अशांति अभाव जनित है और वह अभाव है प्रेम का। प्रेम के अभाव में ही एक प्राणी दूसरे प्राणी की हिंसा करता है। प्रेम के इस अभाव की पूर्ति हिंसा-प्रतिहिंसा की भावना, अर्थलोलुपता, अधिकार की लिप्सा से नहीं की जा सकती है। नैतिकता से अनैतिकता, अहिंसा से हिंसा, प्रेम से घृणा, क्षमा से क्रोध व उत्सर्ग से संघर्ष एवं मानवता से पशुता पर विजय प्राप्त की जा सकती है। प्रश्न उठता है कि व्यक्ति हिंसा किसका करता है? स्व की या पर की? सामान्यतः यह माना जाता है कि हिंसा जब भी होती है दूसरे की ही होती है। लेकिन जैन धर्म के अनुसार जब भी

हिंसा होती है तब दोनों अर्थात् स्व और पर की होती है। हिंसा में क्रोध, मान, द्वेष आदि की भावना निहित होती है, जिससे व्यक्ति स्व की हिंसा करता है। वस्तुतः जिसे व्यक्ति मारना चाहता है वह कोई दूसरा नहीं बल्कि वह स्वयं ही है, क्योंकि सभी जीव समान हैं। भगवान् महावीर ने कहा है- 'एगो आया' अर्थात् आत्मा एक है, एक रूप है, एक समान है। चैतन्य के जाति, कुल, समाज, राष्ट्र, स्त्री पुरुष आदि के रूप में जितने भी भेद हैं, वे सब आरोपित भेद हैं, बाह्य निमित्तों द्वारा परिकल्पित किये गये मिथ्या भेद हैं। आत्माओं के अपने मूल स्वरूप में कोई भेद नहीं है।^२ बैर हो, घृणा हो, दमन हो, उत्पीड़न हो सब अंततः लौटकर कर्ता के ही पास ही आते हैं, क्योंकि कृतकर्म निष्फल नहीं होते। यह ठीक उसी तरह होता है जिस तरह कुएँ में की गई ध्वनि प्रतिध्वनि के रूप में वापस होती है।

हिंसा से कभी भी शांति या समता की स्थापना नहीं हो सकती। क्या घृणा से घृणा का अन्त हो सकता है? बेशक नहीं। हम सभी जानते हैं कि युद्धोत्तर काल में विश्व के जिन देशों में साम्यवाद की स्थापना हुई, उन देशों में पहले खून की होली खेली गई। पूँजीपतियों के नाम पर एक बहुत बड़े वर्ग का सफाया किया गया। उन्मूलन की यह प्रक्रिया आज भी चल रही है, लेकिन यह विश्वबन्धुत्व का मार्ग नहीं है और न ही इसके द्वारा विश्वशांति स्थापना की कल्पना की जा सकती है। क्योंकि विश्वशांति तभी संभव हो सकती जब मानवीय चर्या में भौतिकता के साथ आध्यात्मिकता का भी समावेश हो। युद्ध आज भी होते हैं, पर उनमें निरपराध और युद्ध से विरत प्राणियों का भेदभाव नहीं होता। प्रत्येक युद्ध के बाद यह उम्मीद की जाती है कि भविष्य में युद्ध नहीं होगा, लेकिन सत्यता यह है प्रत्येक युद्ध समाप्ति के साथ भावी युद्ध का बीजारोपण हो जाता है। कारण कि मानव में प्रतिशोध की भावना का जन्म हो जाता है। इसके लिए आवश्यकता है मनुष्य के हृदय-परिवर्तन की। इस सम्बन्ध में ११ दिसम्बर, १९५९ को अमेरिका के राष्ट्रपति जनरल आइजनहावर द्वारा भारतीय संसद में दिये गये वक्तव्य को देखा जा सकता है। उन्होंने कहा - 'मैंने एक भी ऐसे व्यक्ति को नहीं देखा जो युद्ध चाहता हो। ऐसी एक भी माता नहीं होगी जो अपने पुत्र को युद्ध में भेजना चाहे। सभी विश्वशांति चाहते हैं। इसके लिए निःशस्त्रीकरण आवश्यक है। किन्तु निःशस्त्रीकरण से क्या युद्ध नहीं होगा? वस्तुतः युद्ध शस्त्रों द्वारा नहीं होता। युद्ध मनुष्य करते हैं और मनुष्य लोभ से प्रभावित होते हैं। अतः युद्ध के सम्बन्ध में जब तक युद्ध की प्रवृत्ति न बदले तब तक शांति का स्थायी समाधान नहीं निकल सकेगा। स्पष्ट है आज सम्पूर्ण विश्व में राजनीतिज्ञ अहिंसक समाज के लिए सचेष्ट हैं। वे विश्व शांति का मार्ग ढूँढ़ रहे हैं। उन्हें यह मार्ग कौन बताएगा? इसका उत्तर है - भारत के

सन्त और महापुरुष, जिन्होंने अहिंसा और विश्वशांति के लिए विभिन्न पक्षों का अध्ययन, मनन किया है, वे ही विश्व को शांति का मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं।^३

भगवान् महावीर ने कहा है- मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणई। अर्थात् विश्व के सभी प्राणियों से मेरी मैत्री है, मेरा किसी से भी बैर नहीं है। वस्तुतः जिसे तू मारना चाहता है वह तू ही है, जिसे तू शासित करना चाहता है वह तू ही है, जिसे तू परिताप देना चाहता है वह तू ही है। अतः सब प्राणी, सब भूत, सब जीव और सब सत्त्वों को न मारना चाहिए, न अन्य व्यक्ति के द्वारा मरवाना चाहिए, न बलात् पकड़ना चाहिए, न परिताप देना चाहिए और न उन पर प्राणापहार उपद्रव ही करना चाहिए।^४ जीव के प्रति अन्याय की जितनी भी प्रवृत्तियां हैं सभी हिंसा के अन्तर्गत आती हैं। आज समाज में बढ़ती हिंसा की प्रवृत्तियां चाहे सामाजिक क्षेत्र में हो या धार्मिक क्षेत्र में या फिर आर्थिक क्षेत्र में सब के पीछे हिंसा तो जीव की ही होती है। आचार्य तुलसी ने कहा है कि युद्ध चाहे जैसा भी हो वह हिंसा का परिणाम है, उसे अहिंसा की संज्ञा नहीं दी जा सकती। यद्यपि युद्ध अहिंसा नहीं है तथापि उसमें अहिंसा के लिए पर्याप्त स्थान है। जैसे आक्रांता न बनें, निरपराध को न मारें, कम से कम नागरिकों को तो न मारें, अपाहिजों के प्रति क्रूर व्यवहार न करें। इसी प्रकार क्रय-विक्रय, व्यापार और आदान-प्रदान समाज के लिए आवश्यक है। यह अहिंसामय है- ऐसा नहीं कहा जा सकता। किन्तु इसमें अन्याय और शोषण न हो, कम तोल-माप न हो, मिलावट न करे, विश्वासघात न करे, झूठा दस्तावेज न बनाए- ऐसा तो संभव है ही। यही व्यापार के क्षेत्र में अहिंसा है।^५ जैन धर्म आचार, विचार और अर्थ जो मानव जीवन के तीन महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं, में अहिंसा की बात करता है।

जैन धर्म की समाज-व्यवस्था विश्वप्रेम की नींव पर ही अवलम्बित है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत केवल मनुष्य के बीच भाईचारे का सम्बन्ध ही निहित नहीं है बल्कि संसार के पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े आदि समस्त प्राणियों के साथ भ्रातृत्व भाव समाहित है। तभी तो कहा गया है-

सत्त्वेषु मैत्री गुणीषु प्रमोदं क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वमं ।

मध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव ॥^६

प्राणियों के प्रति प्रेम ही एक ऐसा सिद्धान्त है जो व्यक्ति और समाज के बीच अधिकार और कर्तव्य की शृंखला स्थापित कर सकता है। आज व्यक्ति और समाज के बीच की खाई संघर्ष और शोषण के कारण गहरी हो गई है जिसे प्रेमाचरण द्वारा ही भरा जा सकता है। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि मानव का जीना उसका

अधिकार है लेकिन दूसरे को जीने देना उसका कर्तव्य है। जिस दिन ये बात लोगों को समझ में आ जायेगी समाज में शांति होगी।

मतवैभिन्नता भी समाज में अशांति का कारण है। महावीर ने कहा है कि अपनी बात या धारणा के प्रति दुराग्रह होना एकांतवाद है। यही कारण है कि हठवादिता और एकान्त दृष्टिकोण हमारे लिए अशांति और संघर्ष उत्पन्न करते हैं। इस समस्या के समाधान हेतु महावीर ने अनेकान्तवाद को प्रस्तुत किया। कहा कि किसी वस्तु को एकान्ततः 'ऐसा ही है' के स्थान पर 'ऐसा भी है' का प्रयोग करना चाहिए। क्योंकि 'ही' आग्रह का द्योतक है तो 'भी' विनम्रता का। 'भी' से वक्ता की अपेक्षादृष्टि का पता चलता है।

वर्तमान अर्थप्रधान संस्कृति जो अशांति का सबल कारण है उसे अर्थसंयम द्वारा दूर किया जा सकता है। आज व्यक्ति के पास जितनी सम्पत्ति बढ़ती जा रही है उसमें उतनी ही मात्रा में असंतोष की भावना भी बढ़ रही है। असंतोष की यह भावना ही मानव को हिंसा की ओर प्रवृत्त करती है। क्योंकि संचयवृत्ति में मानव को न्याय-अन्याय का विचार नहीं रहता है। आर्थिक समानता में जैन धर्म का अपरिग्रह सिद्धान्त अहम् भूमिका निभा सकता है।

अहिंसा के बिना विश्वशांति असंभव है। आज के मर्यादाहीन एवं उच्छृंखल जीवन में समरसता एवं शांति लाने के लिए अहिंसा ही वह आधार है जिस पर परमानंद का प्रासाद खड़ा किया जा सकता है। एकमात्र अहिंसा ही है जो मानव हृदय और शरीर के मध्य, बाह्य प्रकृतिचक्र और अन्तरात्मा के मध्य, स्वयं और पड़ोसी के मध्य सदभावपूर्ण सामंजस्य पैदा करके बन्धुता का रस बहा सकता है तथा समग्र चैतन्य के साथ बिना किसी भेदभाव के तादात्म्य स्थापित कर सकता है। लेकिन अहिंसा का यह प्रारूप तभी संभव है जब अहिंसा के साधनों के औचित्य को हम ध्यान में रखेंगे। जैन धर्म में प्रत्येक कार्य को संचालित करने के लिए सर्वप्रथम श्रद्धा और विश्वास पर बल दिया गया है। रत्नत्रय के रूप में जैन धर्म ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को इस रूप में प्रस्तुत किया है कि व्यक्ति इनके द्वारा अपने वैयक्तिक जीवन को सुधार कर समाज और राष्ट्र की ऐसी इकाई बन सकता है जिससे आदर्श समाज और राष्ट्र का निर्माण होगा।

अहिंसा जिसे कायरो के शास्त्र कहा जाता है, वस्तुतः वह एक ऐसी विधायक शक्ति है कि जिस कार्य को लाख परमाणुबम और हाइड्रोजन बमों के प्रयोग से सम्पन्न नहीं किया जा सकता है उस कार्य को अहिंसा द्वारा सहज ही सम्पन्न किया जा सकता है, जैसे महात्मा गाँधी ने भारतवर्ष की आजादी में अहिंसा की शक्ति से लोगों को अवगत

६० : श्रमण, वर्ष ५९, अंक ४/अक्टूबर-दिसम्बर २००८

कराया था। आज आवश्यकता है अहिंसा को व्यावहारिकता के धरातल पर लाने की किन्तु इसके लिए हमें दृढ़संकल्प होना होगा तभी विश्वशांति की स्थापना हो सकेगी।

सन्दर्भ :

१. मिश्र, अनन्त, विश्वशान्ति और अणुव्रत, प्रका०- आत्माराम एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली, पृ०- २१
२. चिन्तन की मनोभूमि, सम्पादक डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, पृ०- २५१
३. मिश्र, अनन्त, विश्वशान्ति और अणुव्रत, प्रका०- आत्माराम एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली, पृ०- २२
४. सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता,
न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघित्तव्वा,
न परियावेयव्वा, न उद्देवेयव्वा, एस धम्मे सुद्धे नियये सासये। आचारांगसूत्र,
१/४/१
५. मिश्र, अनन्त, विश्वशान्ति और अणुव्रत, प्रका०- आत्माराम एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली, पृ०- २१
६. सामायिक पाठ, १

✽

भास का प्राकृत प्रयोगजन्य दर्शन

डॉ० रामा शंकर रजक*

संस्कृत की भाँति प्राकृत भी भारतीय ज्ञान-विज्ञान की वाहिका भाषा रही है, जो सम्भवतः वैदिक काल से भारतीय जन-जीवन में अपने विविध दैशिक रूपों में प्रयुक्त होती चली आ रही है। प्राकृत साहित्य में व्यवहार और दर्शन का जितना विवेचन है, उतना ही लौकिक और जीवविज्ञान से सम्बन्धित विषयों का प्रतिपादन भी है। जैन साहित्य विभिन्न भारतीय भाषाओं में उपलब्ध है, परन्तु इनकी प्रारम्भिक और आधारभूत भाषा प्राकृत है। प्राकृत साहित्य में विभिन्न विधाओं का विश्लेषण हुआ है। अनेक विद्वानों ने संस्कृत तथा प्राकृत दोनों को पृथक् भाषा माना है और 'प्राकृतस्य तु सर्वमेव संस्कृतं योनिः' (प्राकृतसञ्जीवनी) को अमान्य घोषित किया है।^१ ऐसा प्रतीत होता है कि जब संस्कृत ने अपने को उत्कृष्टतम भाषा के पद पर प्रतिष्ठित कर लिया, तब से उसका जन-सम्पर्क प्रायः छूट गया और उस समय से प्राकृत जन-साधारण की भाषा बनी। यही कारण है कि प्राकृत ने विभिन्न भारतीय राज्यों में अपना पृथक्-पृथक् स्वरूप धारण किया और उसका प्रवाह भी बना रहा। कालान्तर में प्राकृत ने अपना साहित्यिक रूप ग्रहण किया और तब से प्राकृत-साहित्य (साहित्यिक प्राकृत) के विभिन्न बिन्दुओं पर शिक्षित जनों की दृष्टि गयी। जिन्हें साहित्यिक प्राकृत कहा गया उनमें महाराष्ट्री (विदर्भ, महाराष्ट्र), शौरसेनी (शूरसेन-मथुरा के आस-पास), मागधी (मगध), अर्धमागधी (कौशल) और पैशाची (सिन्ध) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।^२ प्राकृत-व्याकरण के यशस्वी विद्वान् पिशेल के अनुसार स्वच्छन्द प्रयोग के लोप होने से आर्यभाषा के लौकिक मध्यकालीन रूप का विकास हुआ, लेकिन प्राकृत के विकास का आधार प्राचीन और प्राचीनतर आर्यभाषाओं की विशेषताएँ हैं।

संस्कृत से प्राकृत के उद्भव सिद्धान्त में सिंहदेवगणि के अनुसार 'प्रकृतेः संस्कृतात् आगतं प्राकृतम्'^३ है, अर्थात् संस्कृत ही प्रकृति है और उससे आगत या विकसित भाषा प्राकृत कहलायी। 'प्राकृतसञ्जीवनी' में वर्णित है- 'प्राकृतस्य तु सर्वमेव संस्कृतं योनिः'^४ अर्थात् सभी संस्कृत प्राकृत का उद्भव स्थान है। इसी प्रकार अन्य विद्वानों ने भी संस्कृत को ही प्राकृत का उद्गम स्थल माना है, यथा-

* पी०डी०एफ०, संस्कृत-विभाग, बी०आर०ए०बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर।

‘प्रकृतेः संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृति मता।^६

‘प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं प्राकृतमुच्यते।^७

‘प्रकृतेरागतं प्राकृतम्’ व्याख्यानानुसार ‘प्रकृत’ (संस्कृत) का विकृत भाषास्वरूप ही प्राकृत कहलाया। तत्कालीन संस्कृत नाटकों में नायक का शिष्टजनों के अतिरिक्त स्त्री आदि सामान्य किंवा नीच (अधम) पात्रों की भाषा भी प्राकृत होनी चाहिए। ‘नाट्यशास्त्र’ का यह प्रावधान द्रष्टव्य है-

शौरसेनी समाश्रित्य भाषां काव्यं योजयेत्।।

-----।

शकाराभीरचण्डाल-शवरद्रमिलान्धजाः ।

हीना वनेचराणां च विभाषा नाटके स्मृता ॥।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह सप्रमाण कहा जा सकता है कि प्राकृत भाषाओं का मूल उत्स संस्कृत ही है।

प्राकृत भाषा, लोकभाषा के रूप में स्थापित हुई लेकिन उसे जानने के लिए आज केवल उसका साहित्यिक स्वरूप ही उपलब्ध है। शौरसेनी प्राकृत संस्कृत नाटकों में प्रायः प्रयुक्त दिखती है। संयोगात्मकता, सरलता एवं संक्षिप्तता के कारण भगवान् महावीर ने इसे अपनाया था। महावीर का काल छठी शताब्दी ई० पू० माना गया है।^९ उनके उपदिष्ट वचन प्राकृत भाषा में संकलित हैं। भास के तेरह रूपक उपलब्ध हैं, जिनमें पाँच एकाङ्की, एक समवकार, पाँच नाटक और दो प्रकरण की कोटि में आते हैं। इनमें प्राकृत भाषा का भूयशः प्रयोग किया गया है।

भासकृत एकाङ्की रूपक -‘उरुभङ्गम्’, ‘उत्सृष्टिकाङ्क’ के रूप में परिगणित है, क्योंकि इसमें करुण रस, नारी क्रन्दन तथा रणविजय एवं पराजय चर्चित है-

उत्सृष्टिकाङ्के प्रख्यातं वृत्तं बुद्धया प्रपञ्चयेत्।

रसस्तु करुणः स्थायी नेतारः प्राकृता नराः।।

भाणवत् सन्धिवृत्त्यङ्कैर्युक्तः स्त्रीपरिदेवितैः।

वाचा युद्धं विधातव्यं तथा जयपराजयौ।।^{१०}

इस एकाङ्की में कृष्ण के इङ्गित करने पर भीम गदा-प्रहार से ऊरु पर आघात कर, अन्यायी दुर्योधन को परास्त कर देते हैं, अतएव भीम प्रतिनायक की भूमिका में

दिखते हैं। दुर्योधन का पुत्र अपने पिता को मृत देखकर शोकाकुल हो जाता है और दुर्योधन की पत्नियाँ भी करुण विलाप करती हैं।

संस्कृत साहित्य का एकमात्र दुःखान्त रूपक यही है। संस्कृत साहित्य में रूपक के सुखान्त होने की नाट्य परम्परा का यह अपवाद कहा जा सकता है। आसुरी प्रवृत्ति सम्पन्न दुर्योधन जैसे व्यक्ति की मृत्यु एक दृष्टि से सुख का कारण भी हो सकती है। यह संभावना की जा सकती है कि भास के काल में 'भरतनाट्यशास्त्र' के नियम साहित्यकारों में पूर्णतः मान्य न हो पाये हों। इस एकाङ्की में चार पात्रों गान्धारी, मालवि व पौरवि (दुर्योधन की पत्नियाँ) और दुर्जय ने प्राकृत भाषा का प्रयोग किया है।

- गान्धारी- पुत्रअ! कहिं सि ? (पुत्रक! क्वासि?), पृ०-४३, ऊरुभङ्गम्।

अर्थात् पुत्र! कहाँ हो?

- दैव्यौ - महाराअ! कहिं सि? (महाराज ! क्वासि), पृ०-४३, वही।

- गान्धारी-जीवाविदह्नि मन्दभाआ। (जीवितास्मि मन्दभागा), पृ०-४३, वही।

अर्थात् हाँ! मन्दभागिनी मैं अभी तक जीवित हूँ।

- दैव्यौ-महाराअ! महाराअ! (महाराज! महाराज!), पृ०, ४३, वही।

- गान्धारी-महाराअ! ण दिस्सदि। (महाराज! न दृश्यते), पृ०-४४, वही।

अर्थात् महाराज! वह नहीं दिखाई पड़ रहा है।

- गान्धारी- जाद सुयोधण! देहि मे पडिवअणं ! पुत्तसदविणासदुत्थिदं समस्या-सोहि महाराअ। (जात सुयोधन ! देहि मे प्रतिवचनम् पुत्रशतविनाशदुःस्थितं समाश्वासय महाराजम्।), पृ०४५, वही।

अर्थात् पुत्र सुयोधन! मुझे उत्तर दो। सौ पुत्रों की मृत्यु से दुःखी इस अभागे महाराज को धैर्यावलम्बन दो।

- गान्धारी- एत्थ जादा! (अत्रा जाते) - पृ -४७, वही। अर्थात् पुत्रियों। इधर आओ।

- दैव्यौ-अय्ये! इमा म्ह। (आर्ये! इमे स्वः) -पृ०-४७, वही। अर्थात् आर्ये। हम दोनों यहाँ हैं।

- गान्धारी - अण्णोसह भत्तारं । (अन्वेषेथां भर्तारम्) - पृ० - ४७, वही।
अर्थात् अपने स्वामी को ढूँढो।

- दैव्यौ- गच्छाम मन्दभाआ। गच्छावः मन्दभागे । -पृ - ४७, वही।
अर्थात् हम दोनों मन्दभागिनी जाती हैं।

- धृतराष्टः - क एष भो। मम वस्त्रान्तरमाकर्षन् मार्गमादेशयति। -
पृ० - ४७, वही।
अर्थात् अरे ! यह कौन है, जो मेरे वस्त्रों को खींचता हुआ मुझे राह दिखा रहा है।

- दुर्जयः - ताद! अहं दुज्जओ। (तात! अहं दुर्जयः) । पृ०-४८, वही।
अर्थात् - दादाजी ! मैं दुर्जय हूँ।

इस प्रकार 'उत्सृष्टिवङ्क' में नाट्यकार ने जिन चार पात्रों के माध्यम से प्राकृत भाषा का प्रयोग किया है, उनमें तीन स्त्री पात्र हैं और एक पात्र अबोध बालक दुर्योधन पुत्र दुर्जय है। अबोध बालक द्वारा प्राकृत भाषा का प्रयोग यह सोचने के लिए बाध्य करता है कि तत्कालीन समाज में प्राकृत भाषा जनसामान्य की भाषा थी। महाकवि भास अपने रूपकों में जनसामान्य की भाषा (प्राकृत) का प्रयोग कर, आज भी अपने यशः शरीर से अमर हैं। नाट्यकार ने अपने रूपकों में पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' एवं भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' के नियमों का भी उल्लंघन किया है। 'नाट्यशास्त्र' के अनुसार रङ्गमञ्च पर मृत्यु, युद्ध, क्रीड़ा, शयनादि का प्रदर्शन निषिद्ध है, लेकिन भास ने 'प्रतिमा' नाटक में दशरथ की मृत्यु, 'अभिषेक' में बालि की मृत्यु और 'ऊरुभङ्ग' में दुर्योधन की मृत्यु को रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार नाट्यकार ने 'मध्यमव्यायोग', 'ऊरुभङ्ग' और 'बालचरित' में युद्ध की अवतारणा की है। क्रीड़ा, शयन और मृत्यु को रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत करना भास की अपनी विशेषता है।

'प्राकृत' शब्द से हमारा तात्पर्य प्राकृत के केवल एक भेद विशेष से नहीं अपितु शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी, अर्धमागधी आदि सर्वविध भेदों से है। जिस प्रकार 'हिन्दी' शब्द के प्रयोग से खड़ी बोली, ब्रज, बांगड़, कन्नौजी, बुन्देली (यहाँ तक कि राजस्थानी, अवधी, भोजपुरी) आदि का भी समावेश हो जाता है। उसी प्रकार विभिन्न जनपदों की लोकभाषा होने के कारण जनपदानुसार प्राकृत भाषा मानी जा सकती है, तो भी अन्य प्राकृतों को जानने का कोई साधन नहीं है। वैसे आभारी, आवन्ती, गौड़ी, ढक्की, शाबरी, चाण्डाली आदि अनेक नाम यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते हैं।

भाषा के विषय में अपाणिनीय प्रयोग आर्ष काव्य, पुराण-साहित्य और पञ्चाद्वर्ती अनेक ग्रन्थों में बिखरे मिलते हैं। दूसरी स्थिति यह है कि प्राकृत के प्राचीन प्रयोग मलयालम हस्तलेखों की विशेषता है। इसके अतिरिक्त संस्कृत-नाटकों की प्राकृत, हस्तलेखों के लेखन-स्थल एवं काल पर निर्भर है, न कि नाट्यकार के काल पर।

यद्यपि 'मध्य भारतीय आर्यभाषा' को 'प्राकृत काल' के नाम से जाना जाता है, तथापि कुछ विद्वान् इसकी उत्पत्ति संस्कृत से (प्रकृति: संस्कृतम्। तत्र भवं प्राकृतम्) बताते हैं तथा कुछ विद्वान् प्राकृत के परिष्कृत रूप को 'संस्कृत' की संज्ञा देते हैं जबकि कुछ अन्य विद्वान् दोनों के पृथक् अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। अपने अस्तित्व के सम्पूर्ण युग में शास्त्रीय संस्कृत के साथ-साथ मध्य भारतीय-आर्यभाषा अपने विविध रूपों में केवल कथ्य-भाषा के रूप में ही नहीं, प्रत्युत् साहित्यिक भाषा के रूप में भी प्रतिस्पर्धिनी थी। प्रारम्भिक युग में यह प्रतिस्पर्धिनी परवर्ती युग की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण थी। मध्य भारतीय-आर्यभाषा का साहित्यिक भाषा के रूप में उदय ६०० ई० पू० से ५०० ई० पू० के आस-पास जैन तथा बौद्ध धर्मों के विकास के साथ-साथ जुड़ा हुआ है। इन धर्मों के संस्थापकों ने स्वेच्छा से अपने उपदेश के लिए सर्वप्रथम 'प्राकृत तथा पालि' को चयन किया। ३०० ई० पू० अशोक ने अपनी धर्मलिपियों को विभिन्न देशी बोलियों में उत्कीर्ण करवाया था, जिससे 'संस्कृत' की उपेक्षा का भाव दिखता है।

भाषा परिवर्तनशील है। इसलिए किसी देश और किसी युग की कोई भाषा ऐसी नहीं, जो परिवर्तित नहीं हुई हो। इस परिवर्तन को अनिवार्य माना गया है, अतएव भाषा परिवर्तन के निम्नांकित कारणों के आधार पर संस्कृत से प्राकृत का परिवर्तन माना जाता है- १. प्रयत्नबाधक, २. सांस्कृतिक विकास, ३. जलवायु का प्रभाव, ४. आर्यतर-जनभाषा एवं शैली का प्रभाव। तदनुसार प्राकृत में धातुरूप प्रायः एक से चलते हैं। प्राकृत-भाषा में यथा शब्दों में तथैव धातु-रूपों में भी द्विवचन का अभाव रहता है। लिट्, लट्, लङ् लकार तथा आत्मनेपद प्रायः समाप्त हो चुके हैं। भूतकाल का द्योतन कृदन्त प्रयोग द्वारा किया जाता है। दशगणी के स्थान पर प्रायः भवादि तथा चुरादि के ही रूप मिलते हैं। शब्दरूप अधिकांशतः अकारान्त के समान तथा धातुरूप प्रायः भवादिगणी परस्मैपदी धातु के रूपों के समान चलते हैं। प्रथमा-द्वितीया में समान रूप तथा द्विवचन, चतुर्थी-विभक्ति एवं लिट्, लङ्, लृट् लकार का अभाव रहता है। ह्रस्व स्वर के बाद दो से अधिक व्यञ्जन नहीं रहते। पद में अन्तिम व्यञ्जन का प्रायः लोप हो जाता है। संयुक्ताक्षरों में पूर्व-सवर्ण एवं पर-सवर्ण का नियम प्रवृत्त होता है।

भासकृत रूपकों में प्रयुक्त प्राकृत भाषा के आधार पर अनेक विद्वानों ने भास के काल का आकलन किया है। डॉ० हर्टेल ने 'मुण्डकोपनिषद्' की भूमिका में लिखा है कि भास की रचनाओं की प्राकृत भाषा कालिदास की रचनाओं की प्राकृत भाषा की अपेक्षा प्राचीन है।^{११} गवेषक की दृष्टि में डॉ० हर्टेल का उक्त कथन आश्चर्यजनक नहीं है, क्योंकि कालिदास ने अपने नाटक 'मालविकाग्निमित्रम्' में पारिपार्श्विक के मुख से आदर के साथ भास का नाम लिया है-^{१२} 'प्रथितयशसां भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं बहुमानः।' उक्त विवचेन से स्पष्ट है कि कालिदास स्वयं ही भास की नाट्यकला से प्रभावित थे, अतः भास एवं उनकी भाषा की प्राचीनता स्वतःसिद्ध है।

भासकृत रूपकों में प्रयुक्त प्राकृत भाषा का अनुसन्धान करने वाले विद्वानों में डॉ० ए० बनर्जी शास्त्री, विलियम प्रिण्ट्ज, लेस्नी, बी० एस० सुखथंकर प्रमुख हैं। सुखथंकर ने विलियम प्रिण्ट्ज के अध्ययन की आलोचना की है, जिसका प्रकाशन सन् १९४५ में हुआ। प्रिण्ट्ज ने 'पञ्चरात्र' और 'बालचरित' में गोपालकों की भाषा को मागधी कहा है। ध्यातव्य है कि जिस मागधी में कर्ता कारक-एक वचन का अन्त 'ए' से होता है, वही मागधी भासकृत रूपकों में प्रयुक्त है। इसीलिए 'पञ्चरात्र' और 'बालचरित' के गोपालकों की भाषा को उत्तरी तथा पश्चिमी जनभाषाओं का रूप कहा जा सकता है। डॉ० वेलर ने इस प्राकृत को शौरसेनी कहा है। 'कर्णभार' में इन्द्र तथा 'बालचरित' में गोपालक की भाषा को प्रिण्ट्ज ने अर्धमागधी कहा है। भासकृत रूपकों में प्रयुक्त प्राकृत भाषा के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि इस पर पालि स्वरावली का पूर्ण प्रभाव है। नाट्यकार ने कर्ताकारक, एकवचन, उत्तमपुरुष में 'अहम्' के स्थान पर 'अहके' का प्रयोग किया है। अश्वघोष ने 'अहम्' के लिए 'अहकम्' तथा पश्चात्पूर्ती रूपकों में 'हके', 'अहके' और 'हगे' का प्रयोग हुआ है।^{१३}

प्रो० लेस्नी ने भास की प्राकृत भाषा की परिवर्तनशीलता तथा विभिन्न रूपों के साथ प्रयोगों की अधिकता के आधार पर, अश्वघोष और कालिदास की तुलना करते हुए यह सिद्ध किया है कि ये नाटक कालिदास से पूर्व तथा अश्वघोष के बाद के हैं लेकिन बनर्जी व शास्त्री अश्वघोष के बाद होने में प्रमाण के अभाव में अपना समर्थन प्रकट नहीं कर सके हैं।^{१४}

भासकृत रूपकों में 'अम्हाअं' और 'अम्हाणं' ये दो प्रयोग 'अस्माकं' के स्थान पर मिलते हैं। 'आम्' शब्द का प्रयोग भास के रूपकों में प्रचुर परिमाण में मिलता है। यह पालि और अन्य प्राकृतों में भी प्राप्त है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने लिखा है कि 'आम्' ही एक ऐसा शब्द है जो भास के पश्चात्पूर्ती कवियों ने

प्रयुक्त नहीं किया है। यह शब्द 'पालि' में प्रयुक्त मिलता है।^{१५} अतएव भास का काल पालि भाषा का प्रचार काल माना जा सकता है।

'करिअ' शब्द का प्रयोग पिशेल के अनुसार 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' और 'मालविकाग्निमित्रम्' की दक्षिण प्रतियों में ही केवल प्राप्त होता है। सुखथंकर इस प्रयोग को विशिष्ट प्रयोग मानते हैं, क्योंकि यह अश्वघोष की तुर्फान हस्तलिखित प्रतियों में प्राप्त होता है। इसी प्रकार 'किस्स', 'किश्श', 'दिस्स', 'दिश्श' आदि प्रयोग भी अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलते हैं।^{१६} इन प्रयोगों के आधार पर 'भास' की प्राचीनता स्वयंमेव सिद्ध है।

भास की प्राकृत में 'न्' और 'ण्' के स्थान पर 'ञ्ज' और 'ण्ण' प्रयुक्त मिलते हैं जिससे पालि के समान ही भास की प्राकृत सिद्ध होती है। अशोक के शिलालेखों में ये रूपान्तरण उपलब्ध हैं। 'द्य' के स्थान पर 'र्य' की अपेक्षा 'य्य' का ही रूप मिलता है। 'क्ष' के स्थान पर 'च्छ' तथा 'क्ख' दोनों ही रूप मिलते हैं, जो बाद के रूपकों में भी प्राप्त होते हैं।^{१७}

भासकृत रूपकों में प्रयुक्त प्राकृत भाषा को सुखथंकर ने मूल प्राकृत से भिन्न बतलाया है, यद्यपि ऐसा प्रतीत नहीं होता। प्रिण्ट्ज का मागधी तथा अर्धमागधी का भेद उचित नहीं है। अतएव ये शौरसेनी के ही रूपान्तर हैं। भास के 'पञ्चरात्र' तथा 'बालचरित' में 'रा' का 'ल', 'स' का 'श', 'ष' में परिवर्तन द्रष्टव्य है।^{१८} इन शब्दों के प्रयोग के आधार पर भास की प्राचीनता सिद्ध होती ही है, साथ ही भास के काल को 'प्रथमप्राकृत (पालि) भाषा' (५०० ई० पू० से ई० सन् के प्रारम्भ तक) के प्रचार काल को मानना अत्यधिक तर्कसंगत है। चूँकि विविध प्रमाणों के आधार पर विद्वज्जन् भास को आदि नाट्यकार मानते हैं तो अश्वघोष के बाद भास की स्थिति का निर्धारण निराधार है। यद्यपि भासपूर्व नाटकों का केवल नामोल्लेख प्राप्त होता है, ग्रन्थ तो सर्वथा अनुपलब्ध है। यह विदित है कि महाकवि भास आदि नाट्यकार हैं तो पश्चात्वर्ती नाट्यकारों द्वारा भास के रूपकों में प्रयुक्त प्राकृत भाषा का अनुकरण करना सर्वथा युक्तियुक्त है। चूँकि विभिन्न कालखण्ड एवं भिन्न लेखन-स्थल का प्रभाव साहित्य पर पड़ता है। इसलिए भास का समय गवेषणा की दृष्टि से ४ थी-५वीं शती ई० पू० साधिकार निर्धारित किया जा सकता है। नाट्यकार ने उज्जयिनी के विविध स्थलों का सूक्ष्मतापूर्वक साङ्गोपाङ्ग चित्रण किया है, जिसका अक्षिपात किए बिना वर्णन करना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार कवि ने राजा प्रद्योत, उदयन और दर्शक का जो वर्णन किया है, वह बिना प्रत्यक्ष दर्शन के सम्भव नहीं हो सकता, अतएव गवेषक की दृष्टि में महाकवि भास वत्सराज उदयन के दरबारी कवि

रहे होंगे। उक्त ऐतिहासिक व्यक्तियों का काल ५वीं-४थी शती ई० पू० है,^{१९} अतएव महाकवि भास तत्कालीन समाज में निश्चित रूप से विद्यमान रहे होंगे। इस दृष्टि से भास की प्राकृत भाषा उसी काल की है, यह सप्रमाण कहा जा सकता है।

भास द्वारा प्रयुक्त भाषा के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि जैन आचार्यों की भाँति भास भी अपनी रचनाओं में जनभाषाओं के प्रयोग की प्रवृत्ति को अङ्गीकार करते हैं। महाकवि भास ने जनसाधारण के मनोभावों, हृदय की वृत्तियों एवं विभिन्न परिस्थितियों में उत्पन्न होने वाले मानसिक विकारों का बड़ी निपुणता से चित्रण किया है। राग-द्वेष, हर्ष-विषाद, प्रेम-करुणा, उत्साह-अवसाद प्रभृति जितने भाव मानव-हृदय के हो सकते हैं, उनका सरस वर्णन त्रयोदश रूपकों में देखा जा सकता है। भास ने जीवन की उन शाश्वत समस्याओं, यथा-धर्म-काम, धर्म-अर्थ, प्रणय-कर्तव्य, स्वार्थ-परमार्थ आदि का उद्घाटन किया है जिनका मानव-जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। यद्यपि भासकृत रूपकों में जैन और बौद्ध धर्मों के प्रति किसी प्रकार की आस्था प्रकट नहीं होती है। उनके द्वारा प्रस्तुत किये गये धार्मिक आदर्श वैदिक धर्म से सम्बन्धित हैं। यह सत्य है कि नाट्यकार जैन और बौद्ध धर्म से परिचित थे, इसीलिए उन्होंने जैन और बौद्ध श्रमणों का उपहास भी किया है।

यह पक्ष भी अवधेय है कि भासकृत रूपकों में शूद्र द्वारा बिना मन्त्रपाठ के देवता की वन्दना करायी गयी है।^{२०} इसका कारण यह हो सकता है कि वैदिक युग में शूद्र के द्वारा मन्त्रवाचन वर्जित था। धर्मसूत्रों में वर्णित है कि शूद्र देववन्दन कर सकता है। मन्त्रोच्चारपूर्वक देवदर्शन करना उसके लिए निषिद्ध है। यह प्रथा उस समय की ओर सङ्केत करती है, जब वैदिक युग के अनन्तर जैन तथा बौद्ध धर्मों के प्रभाव के कारण शूद्रों को धार्मिक अधिकार दिये जाने लगे थे और परम्परावादी कर्मकाण्डी वेदाध्ययन का अधिकार शूद्रों को नहीं देना चाहते थे।^{२१} अतएव उस समय की सामाजिक मान्यता के आधार पर भास की प्राकृत भाषा एवं समय ई० पू० ४ थी शती होना सम्भव है।

महाकवि भास ने लोकभाषा को साहित्य में अपनाकर जनजीवन में उद्देलित विचारों को अपनाने का संकेत दिया है। इस अर्थ में उनकी दृष्टि जनवादी है। वैसा साहित्य लोक-साहित्य नहीं कहला सकता, जिसमें 'कन्सर्न फॉर अदर्स' (Concern for others, अन्य जनों के प्रति संवेदनशीलता) नहीं हो अथवा जिसमें 'ऑल्टरिटी सेन्सिटिव वैल्यू' (Alterity sensitive value) को महत्त्व नहीं दिया गया हो। यही 'उत्तर आधुनिक साहित्य (Post Modern Literature) की माँग है। महाकवि भास ने अपनी संवेदना के द्वारा द्वैत को समाप्त करने की अनिवार्यता

समझी, इसी कारण भास आज के 'पोस्ट मॉडर्न लिटरेचर' की संवेदनशीलता को प्रदर्शित करते प्रतीत होते हैं और प्राकृत-भाषा के प्रयोग के प्रति अपनी संवेदनशीलता दिखलाकर महाकवि भास, जैन तीर्थङ्करों की तरह 'ऑल्टरिटी सेन्सिटिव वैल्यू' को महत्त्व देते हुए प्रतीत होते हैं।

कवि का कर्तृत्व उसकी रचनाओं की लोकप्रियता पर निर्भर करता है। इस दृष्टि से महाकवि भास की रचनाएँ विश्वविख्यात हैं। भारतीय विद्वानों के साथ-साथ पाश्चात्य विद्वानों ने भी भास की नाट्यकला की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। प्राचीन काल में लिखे जाने के कारण भास की रचनाएँ व्याकरणादि एवं नाट्यशास्त्र के नियमों की शृंखला से मुक्त है। नाट्यकला में निष्णात होने का प्रमाण इनके नाटकों की अधिकता एवं अभिनेयता ही है। उपलब्ध आदि नाट्यकार होने के कारण संस्कृत-जगत् में एकाङ्की रूपकों के प्रणयन करने का श्रेय महाकवि भास को ही प्राप्त है। नाट्यकार ने जिन सीमित घटनाओं को उठाया है, उनका निर्वाह बड़ी कुशलता के साथ किया है। बहुत से विषयों की सूचना कथोपकथनों के द्वारा दी गयी है। महाभारत आश्रित पाँचों एकाङ्की रूपक अनूठी कल्पना से मण्डित हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं- 'उरुभङ्गम्', 'दूतवाक्यम्', 'दुतघटोत्कचम्', 'कर्णभारम्' और 'मध्यमव्यायोगः।'

भासकृत रूपकों की शैली सरल है, किन्तु कालिदास जैसी स्निग्धता (Polish) नहीं है। भास की जो त्रुटियाँ दिखायी पड़ती हैं, वे उनकी कला की न्यूनता की सूचिका नहीं है, प्रत्युत् परम्परा के व्यामोह के कारण वे त्रुटियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। कालान्विति के निर्वाह का अभाव, एक ऐसी त्रुटि है, जिसे हम कालगत न्यूनता मान सकते हैं लेकिन अनेक गुणों के रहते हुए यह न्यूनता उसी प्रकार गुण के रूप में परिवर्तित हो जाती है, जिस प्रकार गन्दे नालों का जल परम पतित पावनी मन्दाकिनी में मिलकर गंगाजल का रूप ग्रहण कर लेता है। भास के रूपक संस्कृत नाट्यकला के उस स्वस्थ युग के सूचक हैं, जब रंगमंच, नाट्य और नाट्यकार एक-दूसरे के परिपोषक एवं परिपूरक थे। उनके सभी रूपक आज भी रंगमंच पर सफलतापूर्वक मंचित किये जा सकते हैं। भास के नाटकों की संख्या तथा उनके वर्ण्य-विषय की अनेकरूपता से स्पष्ट द्योतित होता है कि कवि की प्रतिभा कितनी मौलिक थी तथा उनका मस्तिष्क कितना विमर्श परायण था। भास के रूपकों में विनूतन कल्पनाएँ हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यपरक विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि महाकवि भास ने अपनी रचनाओं में प्राकृत के शब्दों का बेहिचक प्रयोग किया है, साथ ही हमें यह मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए कि आज से ५वीं - ४ थी शती ई० पू०

भास 'उत्तर आधुनिकतावादी' विचारों का पूर्वाभास देते हैं। यह उनके महान् साहित्यिक चिन्तन एवं प्रयोग का स्पष्ट उदाहरण है।

सन्दर्भ:

१. 'चारुदत्तम्', महाकवि भास, व्याख्याकार-पं परमेश्वरदीन पाण्डेय, परिशिष्ट-पृ०-१६५, प्रका०- कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, १९९५ ।
२. वही, पृ० १६५ ।
३. शर्मा, आचार्य देवेन्द्रनाथ, भाषा विज्ञान की भूमिका, पृ० १३१, प्रका०- राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली-१९८९ ।
४. वाग्भट्टालङ्कार, सिंहदेवगणि की टीका- २/२ ।
५. कर्पूरमजरी, वासुदेव की 'संजीवनी' टीका - ९/२ ।
६. षड्भाषाचन्द्रिका, नरसिंह, सम्पा०- कमलाशंकर प्राणशंकर त्रिवेदी, प्रका०- बाम्बे संस्कृत और प्राकृत सिरीज- १९१६ ।
७. मार्कण्डेय कवीन्द्र, प्राकृतसर्वस्व, सम्पा०- भट्टनाथ स्वामी, ग्रन्थप्रदर्शनी, विजगापट्टम, १९२७ ।
८. नाट्यशास्त्र, भरतमुनि, १७/४६-४९ ।
९. श्रीवास्तव, कृष्णचन्द्र, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ९७, प्रका०- यूनाइटेड बुक डिपो, यूनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद-१९९८ ।
१०. दशरूपक, - धनञ्जय, -३/७०-७२, प्रका- भारतीय विद्या संस्थान, वाराणसी, २०००।
११. शास्त्री, डॉ० नेमिचन्द्र, महाकवि भास, पृ०-३२, प्रका०- मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, १९७२ ।
१२. मालविकाग्निमित्रम्, कालिदास, प्रथम अङ्क, पृ०- ६, प्रका०- चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी-१९६५।
१३. द्रष्टव्य महाकवि भास, डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, पृ०-३२, प्रका- मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल- १९७२ ।
१४. वही, पृष्ठ- ३२ ।
१५. वही, पृष्ठ- ३३ ।
१६. वही, पृष्ठ- ३३ ।
१७. वही, पृष्ठ- ३४ ।

१८. वही, पृष्ठ- ३४ ।
१९. श्रीवास्तव, कृष्णचन्द्र, प्राचीन भारत का इतिहास, पृष्ठ-१२७, यूनाइटेड बुक डिपो, यूनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद-१९९८ ।
२०. वार्षलस्तु प्रणामः स्यादमन्त्रार्चितदैवतः। प्रतिमानाटक, महाकवि भास, ३/५।
२१. द्रष्टव्य महाकवि भास, डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, पृ० २८, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल- १९७२ ।



पूर्व-मध्य कालीन जैन ग्रंथों में शिक्षा के तत्त्व

रवि शंकर गुप्ता*

मनुष्य अपने ज्ञान को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाने के लिए जिस विधि या प्रक्रिया का सहारा लेता है वह शिक्षा है। शिक्षा से व्यक्ति-में आत्मविश्वास और कार्यक्षमता का विकास होता है। भारतीय समाज में प्राचीन काल से ही शिक्षा का स्वरूप अत्यन्त सुव्यवस्थित एवं सुनियोजित था। भारतीय संस्कृति की दो परम्पराओं ब्राह्मण एवं श्रमण में शिक्षा का व्यवस्थित रूप देखने को मिलता है। जैन धर्म इसी श्रमण परम्परा की शाखा के रूप में जाना जाता है। जैन शिक्षा-पद्धति का चरम उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना रहा है। व्यक्तित्व के चरम विकास की अवस्था को ही जैन धर्म में मोक्ष कहा गया है।^१ जैन साध्वी चन्दना का कहना है कि 'शिक्षा वह है जो स्वयं को तथा दूसरों को मुक्ति दिलाये अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति कराये।'^२ पूर्व-मध्यकालीन ग्रंथ आदिपुराण की दृष्टि में शिक्षा वैयक्तिक जीवन के परिष्कार का कार्य तो करती ही है, समाज को भी उन्नत बनाती है।^३

पूर्व-मध्यकालीन धार्मिक-सामाजिक प्रगति और उपलब्धियों का भारतीय इतिहास में अपना एक विशिष्ट स्थान है। इस प्रगति से जैन धर्म भी अछूता नहीं रहा। लगभग ७वीं शताब्दी ई० से लेकर १३वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक जैन धर्म का इतिहास विशेष महत्त्व का रहा है। इस काल में जैन आचार्यों ने अपनी अमूल्य रचनाओं के द्वारा न केवल जैन परम्परा को समृद्ध किया, अपितु पूरे भारतीय साहित्य को एक अनुपम योगदान दिया। इस काल के जैन ग्रंथों में शिक्षा सम्बन्धी विवरण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। जैन ग्रन्थों में कुवल्लयमालाकहा, समराइच्चकहा, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, प्रवचनसारोद्धार, सुखबोधसासाचार्य, सिद्धतागमस्तव, विधिमागप्रपा, आदिपुराण इत्यादि विशेष उल्लेखनीय हैं।

जैन ग्रंथों में शिक्षा के विषय शिक्षार्थियों के बौद्धिक विकास पर अवलम्बित थे। पाँच वर्ष के बालक-बालिकाओं को लिपिज्ञान, अंकज्ञान एवं सामान्य भाषा विज्ञान की शिक्षा दी जाती थी। यह एक प्रकार से प्राथमिक शिक्षा थी। इसके बाद शास्त्रीय शिक्षा प्रारम्भ होती थी। यह शिक्षा राजकुमार, सामन्तवर्ग, श्रेष्ठी वर्ग एवं अन्य

* शोध छात्र, श्री बजरंग महाविद्यालय, दादर आश्रम, सिकन्दरपुर, बलिया।

सभ्रान्त व्यक्तियों को दी जाती थी। अध्ययनीय वाङ्मय के अन्तर्गत व्याकरणशास्त्र, छन्दशास्त्र और अलंकारशास्त्र को लिया गया है।^{१०} नवयुवकों को उक्त तीनों विषयों के अतिरिक्त ज्योतिष, आयुर्वेद, शस्त्र संचालन एवं गज, अश्व आदि संचालन की शिक्षा दी जाती थी। इसके साथ ही विविध कलाओं जिसमें पुरुषों की बहत्तर तथा स्त्रियों की चौसठ कलाओं का समावेश है, का विवरण मिलता है।

बहत्तर कलाओं की एक सूची औपपातिकसूत्र (१०७) में पायी जाती है। राजशेखरसूरि के प्रबन्धकोश से ज्ञात होता है कि किस प्रकार सिद्धसेनसूरि ने राजकुमार बप्पभट्टि और राजकुमार आम (कन्नौज) को मोदरपुर के मठ में ७२ कलाओं की शिक्षा दी थी। राजशेखर का समय दसवीं शताब्दी माना जाता है।^{११} उद्योतनसूरिकृत कुवलयमाला में वाणिज्य एवं व्यापार ललित कला, शिल्प विज्ञान, शिक्षा एवं साहित्य आदि विद्याओं के उल्लेख मिलते हैं।^{१२} कुवलयमाला में वर्णन आया है जब कुवलयचन्द्र अपना अध्ययन समाप्त कर आचार्य के साथ राजधानी लौटते हैं तो उनके पिता महाराज दृढवर्मन आचार्य से पूछते हैं - उवज्जाय, किं अभिगओ कला-कलाओं कुमोरण ण वा।^{१३} तब आचार्य ने कहा कि 'स्वयंवरा'^{१४} कलाओं ने स्वयं कुमार को ग्रहण कर लिया है। पुनः राजा के पूछने पर आचार्य ने ७२ कलाओं^{१५} का परिचय दिया। जैन ग्रंथों में जहाँ भी शिक्षण प्रसंग आया है वहाँ प्रायः कलाएँ भी गिनाई गयी हैं जिनके नाम व संख्या में भेद दिखायी देता है। जैसे हरिभद्र^{१६} (७३० ई० - ८३० ई० के अन्तर्गत) ने ८६ कलाओं की गणना की है।

कुवलयमाला में चौबीसवें एवं पच्चीसवें क्रम पर 'वहां' एवं 'खेडुं' का उल्लेख है जिसका अर्थ है वस्त्रों पर की गयी विभिन्न प्रकार की कलात्मक जानकारी। आचार्य हरिभद्र ने कलाओं के प्रसंग में ८१वें संख्या पर 'वत्थखेडुं' नामक कला का उल्लेख किया है।^{१७} इसी तरह छत्तीसवें पर 'पुप्फ' एवं चालीसवें पर 'सकडी' का उल्लेख है जिसका अर्थ है - पुष्पों द्वारा गाड़ी को सजाना। यह कला आज भी शादी-विवाह के अवसर पर बखूबी देखी जा सकती है। इस ग्रंथ में उल्लेखित अधिकतर कलाओं का अर्थ स्पष्ट है किन्तु कुछ कलाएँ ऐसी हैं जिनका पूर्णतया अर्थ समझ में नहीं आता। इसके लिए तत्कालीन परिवेश को ध्यान में रखकर सोचना आवश्यक है। कुवलयमाला में युद्ध-कला के अन्तर्गत मात्र धनुर्वेद का ही उल्लेख मिलता है, जो उस समय की प्रधान कला थी।

उद्योतनसूरि ने वाणिज्य के विविध विषयों का उल्लेख किया है। जिसमें ८४ प्रकार के बाजार,^{१८} धनार्जन के विविध उपाय इत्यादि विषयों का समावेश है। ये सभी

विषय वर्तमान युग के वाणिज्य एवं व्यापार प्रबंधन (Commerce and Business Management) विद्या की आधारशिला कहे जा सकते हैं।

कुवलयमाला में विभिन्न भाषाओं एवं बोलियों का भी विवरण मिलता है। ग्रंथकार ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं का उल्लेख करने के साथ ही ग्रामीण बोलियों,^{१३} शब्दों की भाषा^{१४} एवं देशी बोलियों^{१५} का भी विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है।

स्वाध्याय जो शिक्षण-पद्धति का महत्त्वपूर्ण पक्ष माना जाता है, पर जैन ग्रंथों में विशेष बल दिया गया है। आदिपुराण के रचनाकार जिनसेनाचार्य ने स्वाध्याय के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है - स्वाध्याय करने से मन का निरोध होता है, मन का निरोध होने से इन्द्रियों का निग्रह होता है। अतः स्वाध्याय करने वाला व्यक्ति स्वतः संयमी और जितेन्द्रिय बन जाता है।^{१६}

जैन साहित्य के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है तत्कालीन शिक्षा-व्यवस्था में स्त्रियों को भी शिक्षा ग्रहण करने का समुचित अधिकार था। जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की दोनों पुत्रियाँ ब्राह्मी एवं सुन्दरी विदुषी महिलाएँ थीं। ब्राह्मी के नाम पर ही भारत की प्राचीन एवं बहु-प्रचलित लिपि का नामकरण किया गया है। ब्राह्मी को चौसठ कलाओं तथा सुन्दरी को गणित विद्या में पारंगत बताया गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जैनधर्म में नारियों के प्रति सम्माननीय दृष्टि रखी जाती थी जो बाद के कालों में भी निरन्तर प्रवहमान रहा। समराइच्चकहा^{१७} से ज्ञात होता है कि रत्नावती को विभिन्न प्रकार की शिक्षाएँ दी गई थीं। वह संगीत एवं चित्रकला में विशेष योग्यता रखती थी। इसी ग्रंथ में कुसुमावली^{१८} को काव्य एवं चित्रकला आदि की शिक्षा प्रदान करने का भी उल्लेख मिलता है। कुवलयमाला में मदनमंजरी द्वारा एक राजवीर को विभिन्न प्रकार की विद्याओं को पढ़ाने का उल्लेख है। उसने अल्प समय में ही उस राजवीर को अक्षर-ज्ञान, लिपि-ज्ञान और वास्तुलक्षण आदि की शिक्षा देकर निपुण बना दिया। कालान्तर में उस राजवीर द्वारा शिक्षित एक कन्या प्रसिद्ध भिक्षुणी 'ऐलिका' बनी।

पूर्व-मध्यकालीन भारतीय समाज में कर्मकाण्डों का महत्त्व अधिक था। उस समय स्त्री-शिक्षा पर बंदिश लगाने के उद्देश्य से ही 'स्त्री शूद्रो नाधीयताम्' का मंत्र पढ़ा जा रहा था। लेकिन तत्कालीन जैन समाज ने स्त्रियों की शिक्षा पर बन्धन लगाने से परहेज किया। इस बात का सार्थक प्रमाण आदिपुराण में मिलता है जिसमें पुत्र के साथ पुत्री के जन्म पर भी काफी हर्षोल्लास व्यक्त किया गया है। शिक्षा के महत्त्व को विभिन्न कथाओं, उदाहरणों एवं प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त कर जैन आचार्यों ने स्त्रियों

को शिक्षित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। जैन ग्रंथों में कहा गया है कि स्त्री अशिक्षित रहने पर कुमार्ग का अनुसरण कर सकती है। समराइच्चकहा^{१९} में उल्लेखित पुरन्दर भट्ट की पत्नी नर्मदा और जिनदत्त की पत्नी बन्धुलता शिक्षा के अभाव में ही अशिष्ट एवं असंस्कृत हो गई थी।

मध्य कालीन समाज में सह-शिक्षा के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं। आठवीं शताब्दी के भवभूति के 'मालती माधव' नाटक से सह-शिक्षा के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है। डॉ० अरुण प्रताप सिंह के अनुसार जैन समाज में भी स्त्रियों की शिक्षा की उपर्युक्त व्यवस्था रही होगी। सह-शिक्षा का सबसे आकर्षक परिणाम यह रहा कि नारियाँ अत्यन्त निर्भीक बन गईं। कुछ विदुषी जैन भिक्षुणियों का उल्लेख बौद्ध अट्टकथा में मिलता है जो शास्त्रार्थ करती थीं। 'भद्राकुण्डल केशा' एवं 'नन्दुत्तरा' ऐसी ही जैन भिक्षुणी थीं। 'भद्राकुण्डलकेशा' का बौद्ध भिक्षु 'सारिपुत्र' के साथ तथा 'नन्दुत्तरा' का स्थविर 'महामौद्गल्यायन' के साथ शास्त्रार्थ हुआ था।^{२०}

इससे यह स्पष्ट होता है कि पूर्व-मध्यकालीन जैन ग्रंथों में शिक्षा-सम्बन्धी तथ्य प्रचुर मात्रा हैं जो तत्कालीन शिक्षा-व्यवस्था पर प्रकाश डालते हैं। तत्कालीन कुछ जैन आचार्य अत्यन्त स्मरणीय हैं, जैसे अभयदेवसूरि, वादिराजसूरि, हेमचन्द्र सूरि, जिनसेन इत्यादि।

सन्दर्भ :

१. तत्त्वार्थसूत्र, पं० सुखलाल संघवी, १९७६ ई०, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, १०/२.
२. विजय कुमार, जैन एवं बौद्ध शिक्षा दर्शन-एक तुलनात्मक अध्ययन, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, २००३, पृ० ३.
३. शास्त्री, डॉ० नेमिचन्द्र, आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, गणेश प्रसाद वर्णी ग्रंथमाला, वाराणसी, १९६८ ई०, पृ० २५८.
४. आदिपुराण - १६/१११.
५. प्रबन्धकोश (सम्पादक - जिनविजय जी) भाग १, पृ० २८.
६. कुवल्लभमाला (सम्पादक - डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये), १९५८ ई०, सिंधी जैन शास्त्र विद्यापीठ, भारतीय विद्याभवन, बम्बई।
७. पूर्वोक्त पृ० २१.
८. पूर्वोक्त पृ० २१-२९.

७६ : श्रमण, वर्ष ५९, अंक ४/अक्टूबर-दिसम्बर २००८

९. आलेम्बं णट्ट जोइसं - कुमारम्मि ॥ पूर्वोक्त पृ० १-१०.
१०. शास्त्री, डॉ० नेमिचन्द्र, हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन पृ० ४७ एवं ३९२-९६१, द्रष्टव्य, शर्मा, डॉ० निशानन्द, जैन वाङ्मय में शिक्षा के तत्त्व पृ० १४९१.
११. समराइच्चकहा (सम्पादक एम०सी० मोदी) अहमदाबाद, अष्टमभव
१२. कुवलयमाला- पृ० ८.
१३. पूर्वोक्त पृ० ६३-१२४.
१४. पूर्वोक्त पृ० १२८-१४८.
१५. पूर्वोक्त पृ० १५२-१५३.
१६. आदिपुराण ३४/१३४.
१७. समराइच्चकहा अष्टम भव की कथा में।
१८. पूर्वोक्त द्वितीय भव की कथा में।
१९. पूर्वोक्त नवम् भव की कथा में।
२०. सिंह, डॉ० अरुण प्रताप, जैन और बौद्ध भिक्षुणी संघ, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, पृ० ९१-९२.



अष्टपाहुड एवं प्रवचनसार के परिप्रेक्ष्य में योग्य-अयोग्य साधु विवेचन

आनन्द कुमार जैन*

श्रमण जीवन समदृष्टि से परिपूर्ण है और इसके प्रत्येक प्रसंग में चित्त की सामञ्जस्यता बनाये रखना ही श्रमणजीवन का चरम लक्ष्य है। यह प्रक्रिया श्रमणजीवन के प्रारंभ से समाधिपर्यन्त स्वभाववत् होती है।

प्रत्याख्यान तथा प्रतिक्रमण द्वारा क्वचित् कदाचित् श्रमणचर्या में लगे दोषों का परिमार्जन साधु करते हैं। परन्तु साधु आगमोक्त चर्या का पालन करने का मन-वचन-काय से परिश्रम सदैव ही करते हैं। जो इनमें तत्परता से सन्निहित हैं, वे तो योग्य हैं; भले ही अज्ञानतावश चर्या में दोष लगता रहे, किन्तु जो ज्ञानवान् होकर प्रमादावस्था में दोषों को करते हैं, वे अयोग्य की श्रेणी में गणनीय हैं। वस्तुतः साधु तो वह है जो मोक्ष प्राप्ति के हेतुभूत मूलगुणों तथा तपश्चरण आदि में त्रियोगपूर्वक सदैव तत्पर रहते हैं।^१ यदि चिरप्रव्रजित साधु भी प्रमादवश यत्याचार में स्खलित होता है तो पूर्व में किया गया समस्त तप व्यर्थ ही समझना चाहिए क्योंकि आगमोक्त आचार का पालन ही उसका लक्ष्य है।

प्रस्तुत आलेख में आया साधु शब्द विस्तृत परिप्रेक्ष्य में प्रयुक्त है, अतः यहाँ आचार्य, उपाध्याय तथा साधु - इन तीनों का विवेचन अपेक्षित है। किन्तु प्रस्तुत आलेख में तीनों पदों का प्रयोग न करते हुए मात्र साधु में ही तीनों का समावेश किया गया है। अर्थात् साधु शब्द को केन्द्रित करते हुए आचार्य तथा उपाध्याय का भी कथन इसमें निहित है।

इसी तरह योग्य तथा अयोग्य- इन दो शब्दों का क्षेत्र विस्तृत है, किन्तु मूलाचारकार ने किन-किन सन्दर्भों में इसका प्रयोग किया है, साथ ही अष्टपाहुड एवं प्रवचनसार के रचनाकार ने किन पहलुओं को छुआ, यह इस आलेख का शोध पक्ष है। मूलाचार में विद्या-अध्ययन हेतु स्व-संघ से अन्य-संघ में जाने वाले साधु का

* शोध छात्र, जैन-बौद्ध दर्शन विभाग, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय, का०हि०वि०वि०, वाराणसी ।

लक्षण किया है। तत्पश्चात् उस अन्य संघ से आये हुए के साथ दूसरे संघ के साधु तथा आचार्य किस प्रकार व्यवहार करें, इसका विवेचन है।

अष्टपाहुडकार ने वंदना के सम्बन्ध में प्रकाश डालते हुए योग्यता की कसौटी निर्धारित की है। इसी प्रकार प्रवचनसार में कुन्दकुन्दाचार्य ने २८ मूलगुणों का निरतिचार पालन करना साधु का लक्षण कहा है।

योग्य शब्द की स्पष्टता हेतु योग्य देश, काल, श्रम, क्षमता तथा उपाधि का विवेचन इसमें अन्तर्निहित है।

शोधालेख का विषय मूलाचार के सामाचाराधिकार में निर्दिष्ट है, प्रवचनसार के तृतीय चारित्राधिकार में तथा अष्टपाहुड में प्रकीर्णक रूप में यत्र-तत्र बिखरा हुआ है, जिसे एकत्रित करने का लघु प्रयास यहाँ किया गया है। जिन विषयों को प्रकारान्तर से इसमें समेटा गया है वे इस प्रकार हैं :- गमन-आगमन, भिक्षा-शुद्धि, आहार ग्रहण, अन्य साधु के साथ विनय, अध्ययन, परसंघ प्रवेश, परसंघ-साधु सह व्यवहार, आर्यिका, निर्वाण, वस्त्रधारी मोक्ष के अयोग्य इत्यादि।

संक्षिप्त रूप में कहा जाये तो जिनेन्द्रदेव ने जैसा हितोपदेश प्रस्तुत किया है तदनुकूल आचरण योग्य की कोटि में है तथा तद्विपरीत आचरण अयोग्य की कोटि में है।

साधु का लक्षण

आचार्य वीरसेन स्वामी ने षट्खण्डागम की टीका धवला में साधु को पराक्रमी, स्वाभिमानी, भद्रप्रकृति, सरल, निरीहगोचरीवृत्ति, निःसंग, तेजस्वी, गम्भीर, अकम्प, शान्तचित्त, प्रभायुक्त, सर्वबाधाजयी, अनियतवासी, निरालम्बी, निर्लेप आदि गुणों से युक्त कहा है।^२

इस सम्बन्ध में मूलाचार में साधुओं के दो भेद कहे हैं। जो समस्त तत्त्वों में पारङ्गत हैं अर्थात् ग्रहीतार्थ साधु हैं यह प्रथम भेद है तथा द्वितीय वे जो तत्त्वों के अल्प ज्ञाता हैं और अन्य तत्त्वविदों के साथ रहते हुए दृढचर्या का पालन करते हैं, वे ग्रहीताश्रित मुनि हैं।^३

प्रकारान्तर से इस विषय पर दृष्टिपात करें तो ज्ञात होता है कि ये दोनों भेद योग्य साधु के हैं अर्थात् जो समस्त तत्त्वों के निष्णात विद्वान् हैं तथा उत्कृष्ट चर्या का पालन करते हैं वे एकल विहार कर सकते हैं, ऐसा आगम निर्देश है, किन्तु जो तत्त्वों के अल्पज्ञाता हैं, किन्तु चर्या का उत्साहपूर्वक पालन करते हैं वे साधु समूह के साथ

ही गमन करें, क्योंकि स्वच्छन्द विहार करने पर संयमघात, तप, गुण, श्रुत-विच्छेद, गुरुनिन्दा, तीर्थमलिनता, मूढ़ता, आकुलता, कुशीलता, पार्श्वस्थता आदि दोषों को लगाते हैं।^४ इसके अतिरिक्त इन मुनियों के समक्ष कई अन्यान्य विपत्तियाँ उपस्थित होती हैं जैसे काँटे, ढूँठ, विरोधीजन, कुत्ता, गो, सर्प, म्लेच्छ, विष, अजीर्ण, रोगादि का समागम जिसके वशीभूत होकर जिनलिङ्ग छेद का संदेह रहता है।^५ एतदर्थ अल्पज्ञानी, किन्तु दृढ़ चारित्र्यी साधु को भी एकल विहार का निषेध है।

एकल विहार के प्रसङ्ग में मूलाचार प्रदीप में आचार्य सकलकीर्ति स्पष्ट विवेचन करते हुए लिखते हैं-

अद्याहो पंचमे काले मिथ्यादृग्दुष्टपूरिते।

हीनसंहनानां च मुनीनां चंचलात्मनाम्।।

द्वित्रितुर्यादिसंख्येन समुदायेन क्षेमकृत्।

प्रोक्तो वासो विहारश्च व्युत्सर्गकरणादिकः।।

यह पंचमकाल मिथ्यादृष्टियों तथा दुष्टों का निवास स्थान है तथा इस काल में साधु हीन संहनन के धारी हैं। अतः इस काल में दो, तीन, चार आदि के समूह में ही विहार करना उचित है तथा कायोत्सर्ग भी समुदाय में ही करना चाहिए।^६ ध्यातव्य है कि यह संकेत मुनि समूह की ओर है न कि चतुर्विध संघ से तात्पर्य है। आचार्य वसुनन्दि ने भी आचारवृत्ति में इस विषय पर प्रकाश डालते हुए समर्थन किया है कि- जो द्वादश विषय अंतरङ्ग-बहिरङ्ग तप सहित, द्वादशांग ज्ञान सहित (सूत्रज्ञाता), शरीरादि आत्म-बल सहित (सत्त्वयुक्त), भेद-विज्ञान, उत्कृष्ट तीन संहननों में से किसी एक का धारी हो तथा धैर्य सहित हो वह एकल विहार के योग्य है, अन्य नहीं।^७ आचारवृत्तिकार अधिक गम्भीरता से लेते हुए कहते हैं कि स्वच्छन्द वृत्ति करने वाला मेरा शत्रु भी जिनागम विपरीत आचरण न करे, फिर जो मुनि है उसके विषय में तो कहना भी क्या।^८ दैनिक, चर्या में जो सावधानी अवश्यंभावी है, उसके प्रति सजगता का जीवंत परिचय इस वृत्ति में द्रष्टव्य है।

वस्तुतः संघसमूह में शिथिलाचार को उत्साह मिलने की संभावना कम ही है, किन्तु स्वच्छन्द विहार में शिथिलाचार का दायरा अधिक विस्तृत हो जाता है। अतएव आचार्यों ने अल्पज्ञ साधु के एकल विहार की घोर निन्दा की है। एक के द्वारा ऐसा करने से अन्य साधु भी उसका अनुसरण करेंगे और भ्रष्ट होंगे, जिससे अनवस्था दोष लगेगा। मिथ्यात्व में प्रवृत्ति, संघस्थ या अन्य साधुओं की अवहेलना रूप प्रवृत्ति, त्यक्त विषयों में पुनरासक्ति और परवंचना करता हुआ वह यथार्थ में आत्मवंचना ही

करता है। इन सबसे प्रमुख जो दोष एकलविहारी साधु में उत्पन्न होता है वह है संयमघात।^९

इस संयम पर प्रवचनसार में कहा है कि यह तो निश्चित है कि जहाँ परिग्रह है वहाँ ममत्व है तथा जहाँ ममत्व है वहाँ सहगामी असंयम भी है।^{१०} मुनि आहारक्रिया, इन्द्रियानुसारणी क्रिया, निवास-स्थान, अन्य यतियों अथवा अधर्मचर्चा में रागपूर्वक प्रवृत्ति नहीं करता है। यत्नपूर्ण प्रवृत्ति ही सम्यक्चारित्र का मूल है, किन्तु यत्नरहित क्रिया मूलगुणों की नाशिनी है। कहा भी है कि- जीव जिये अथवा मरे, किन्तु प्रवृत्तिमान का चित्त यत्नसहित है तो दोष नहीं है और यदि चित्त यत्नरहित है तो सर्वथा दोष ही है।^{११} यत्न शब्द का अर्थ आहार, विहार और नीहार आदि क्रियाओं में की गई सावधानी से है। कहा भी है कि- श्रमण आहार तथा विहार में देश, काल, श्रम, क्षमता तथा उपाधि को जानकर ही प्रवर्तन करे, जिससे अत्यल्प कर्मों का बन्ध हो।^{१२} वस्तुतः जिनवचन ही साधु के चक्षु है,^{१३} अतः इन आगम चक्षुओं का आश्रय लेकर वे स्वपरहित कार्य सम्पादित करते हैं क्योंकि जिनकी आगमोक्त प्रवृत्ति नहीं है, वे संयम विराधक हैं।^{१४} जितने कर्मों का नाश अज्ञानी अर्थात् अयोग्य श्रमण कोटि वर्षों में करता है उतना ज्ञानी अर्थात् योग्य साधु उच्छ्वास मात्र में नष्ट करता है।^{१५}

आचारवृत्तिकार ने इन पाँच मुख्य दोषों के अतिरिक्त कई अन्य दोषों का समावेश इसमें माना है। अतः उपर्युक्त दोषों को ध्यान में रखते हुए अल्पशक्तिधारी मुनियों को एकलविहार नहीं करना चाहिए।

योग्य आचार्य का लक्षण

समूह में विहार करते हुये जो योग्य धर्मानुरागी, मोक्षाभिलाषी भव्य जीवों को संघ में दीक्षा देकर संघ में संग्रह करते हैं तथा उन्हीं साधुओं को शास्त्रज्ञान प्रदान कर उन पर असीम अनुग्रह करते हैं, आगम के सूत्रों को समझने में श्रम करने वाले हैं और जिनकी कीर्ति उदीयमान सूर्य की तरह द्रुतगति से चहुँ दिशाओं में फैल रही है, जो पंचनमस्कार, षडावश्यक, आसिका, निषेधिका - इन तेरह प्रकार की क्रियाओं तथा पञ्चमहाव्रतों, पंचसमितियों, तीन गुप्तियों-इन तेरह प्रकार के चारित्रों में अनुरक्त हैं, आप्तकथित होने के कारण जिनके वचन ग्राह्य तथा आदेय हैं, वे योग्य आचार्य हैं।^{१६}

प्रवचनसार में पंच समिति, पञ्च इन्द्रियविजय, त्रिगुप्तियुक्त, कषायजयी तथा दर्शनज्ञानपूर्ण एकाग्रचित्त समभावी को साधु कहा है।^{१७}

आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार जो महाशक्तिधारी परीषहजय कर मुनिपदयुक्त हैं, वे वंदनीय हैं।^{१८} ज्ञानसहित हेय-उपादेय का ज्ञायक, संयमी परद्रव्य में राग नहीं

करता^{१९}, जो मुनि संयम से सहित है तथा आरम्भ और परिग्रह से विरत है वही सुर, असुर और मनुष्यों से युक्त लोक में वन्दनीय है।^{२०}

इस प्रसङ्ग में आगे वे कहते हैं कि योग्य साधु योग्य आचार्य के समीप शास्त्र ज्ञानार्जन हेतु या समाधिमरण हेतु जाता है, किन्तु वहाँ पहुँचने पर उसे ज्ञात हो कि आचार्य अयोग्य या भ्रष्ट है तो उसी समय साधु को आचार्य के संसर्ग का त्याग कर देना चाहिए तथा इसी प्रकार शिक्षार्जन या समाधिधारण निमित्त आये परसंघस्थ साधु को भ्रष्ट जानकर आचार्य को छेदोपस्थापना या संघ से निष्कासित कर देना चाहिए। अन्यथा जिनाज्ञा उल्लंघन का दोष लगने से आचार्य स्वयं छेद योग्य हो जाते हैं।^{२१} इस प्रकार साधु के दो भेदों के अन्तर्गत योग्य साधु का विवेचन किया गया है।

अध्ययन सम्बन्धी योग्यायोग्य साधु

आचार्य वट्टकेर के अनुसार द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव की शुद्धिपूर्वक ही शास्त्राध्ययन करना चाहिए।^{२२} द्रव्य अर्थात् शरीरशुद्धि, क्षेत्र अर्थात् अध्ययनस्थल से सौ हाथ पर्यन्त भूमि का शुद्ध होना। संध्याकाल, मेघगर्जन, विद्युत्पात और उत्पाद के समय अध्ययन करने से कालदोष लगता है।^{२३}

सूत्रज्ञान, संयम और तप में निपुण श्रमण योग्य है^{२४} तथा सूत्र, संयम और तप से युक्त भी साधु यदि श्रद्धान रहित है तो वह आचार्य कुन्दकुन्द के मत में श्रमण नहीं है।^{२५}

वस्तुतः वन्दना करने योग्य साधु को दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप तथा विनय से युक्त होना चाहिये।^{२६}

उपर्युक्त से भिन्न जो साधु स्वयं गुणहीन होकर अन्य गुणधारियों से स्वविनय की अपेक्षा करते हैं वे परभव में लूले-लँगड़े और मूक होते हैं।^{२७} असंयमी और भावसंयमरहित - दोनों ही प्रकार के साधु वन्दना के अयोग्य हैं।^{२८} भले ही शरीर कामदेव तुल्य हो, उत्तमकुलोत्पन्न तथा उत्कृष्ट जात्युत्पन्न हुआ हो, किन्तु रत्नत्रय गुणरहित साधु अवन्दनीय ही है।^{२९}

ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही अष्टपाहुडकार कहते हैं कि धर्म का मूल दर्शन है तथा वह अवश्यम्भावी है।^{३०} दर्शन से च्युत का संसार-समुद्र विशाल है, किन्तु जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों से भ्रष्ट है, वह अधमश्रेष्ठ है।^{३१} बाह्य योग्य लक्षणों से युक्त जीव श्रद्धान रहित है तो बाह्य समस्त गुणों का होना व्यर्थ है। किन्तु कदाचित् आगमज्ञान के लोभ से द्रव्यादि शुद्धियों का उल्लंघन करता है तो असमाधि, अस्वाध्याय, कलह, रोग तथा वियोग को नियमतः प्राप्त होता है।^{३२}

इस प्रसङ्ग में भी पूर्व की तरह यदि आगमानुकलरीत्या ज्ञानार्जन करे तो वह साधु योग्य है और विपरीत प्रवर्तन करे तो निःसंदेह अयोग्य है।

प्रकाशबेला में क्रियाओं से निवृत्त होना

योग्य साधु का अगला विशेषण यह है कि उसे हाथ की रेखा दिखने योग्य प्रकाश के दोनों काल में यत्नपूर्वक आवासस्थान का पीछी से परिमार्जन करना चाहिए,^{३३} क्योंकि निशाकाल में पाटा आदि बिछाने-उठाने से कदाचित् जीवहिंसा हो सकती है। इस तरह यह क्रिया श्रमणचर्या के प्रति सजगता तथा शिथिलता- इन दोनों को प्रदर्शित करती है।

अपने दीक्षागुरु या संघगुरु (परसंघ) की आज्ञानुसार चर्या करना ही श्रमण लक्षण है। आचार्य स्वयं के विषय में आगम को प्रमाण मानता हुआ तदनुकूल आचरण कर निष्कलंक रहता है। अन्यसंघ में प्रवेश कर अल्पशक्तिधारी, गुरु आदि समस्त त्यागीवृन्द की सेवा सस्नेहपूर्वक करना साधु का कर्तव्य है।^{३४}

आचार्य कुन्दकुन्द अपनी कृति प्रवचनसार में अत्यन्त कटिबद्धतापूर्वक कहते हैं कि- जो सम्यग्दृष्टि साधु से द्वेष रखता है तथा उसका अपवाद कर सद्क्रियाओं का विरोध करता है, वह अपने चारित्र को ही भ्रष्ट करता है।^{३५} इसके अतिरिक्त बहुगुणधारी श्रमण जब अल्प गुणधारी की विनय करता है तो वह निश्चय ही चारित्र भ्रष्ट होता है।^{३६} यहाँ विशेष यह है कि श्रमण परसंघस्थ समस्त क्रिया-कलापों को सुरुचिपूर्वक करता है,^{३७} परन्तु इन सभी क्रियाओं के अनुपालन के क्रम में यदि दोष लगे तो परिमार्जन का विधान भी उसी संघ में निर्दिष्ट किया है, अन्य संघ में नहीं।^{३८} यथार्थ में अशुभ लक्षणों से युक्त व्यक्ति भवोदधितारक नहीं हो सकता है। इस कार्य में तो वही समर्थ है जो शुद्धोपयोग में अनुरक्त है। संयमी साधु द्वारा षट्काय के जीवों की रक्षा करना साधुधर्म है एवं जो अवहेलना करता है वह गृहस्थ है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने अष्टपाहुड में विविध स्थलों पर कहा है कि जिसके हृदय में शत्रु-मित्र में समभाव है, प्रशंसा-निन्दा, लाभ-अलाभ, तृण-कंचन में समानभाव है,^{३९} जो निर्ग्रन्थ, निःसंग, निर्मान, रागरहित, द्वेषरहित, ममत्वहीन, निरहंकारी,^{४०} यथाजातनन, लंबायमानभुजा, निरायुध, सुन्दर अङ्गोपाङ्ग, अन्यकृत निवासवासी, उपशान्त परिणामी, क्षमाभावी, इन्द्रियजयी, शृंगारहीन, अज्ञान निवृत्त है, वह श्रमण है।^{४१} प्रकारान्तर से ये योग्य यथार्थ साधु के लक्षण हैं।

शीलपालन में सजगता

आर्थिका के सम्बन्ध में कहते हैं कि मुनि को अकेली आर्थिका से धर्म सम्बन्धी चर्चा भी नहीं करनी चाहिए, अकेले एकान्त में नहीं मिलना चाहिए।^{४२} तरुण

यति तथा तरुणी का आपसी वार्तालाप आज्ञाकोप, अनवस्था, मिथ्यात्वाराधना, आत्मनाश और संयम विराधक- इन पाँच दोषों का शरणस्थल है। साधु को आर्थिकाओं के निवास स्थल के समीप निवास नहीं करना चाहिए।^{१३}

बोधपाहुड में कहते हैं कि - तिर्यञ्च, महिला, नपुंसक, कुशील पुरुष का संयोग, स्त्रीकथा, राजकथा, भोजनकथा तथा चोरकथा का श्रमण को निषेध है। उसका परमलक्ष्य मात्र जिनवचन का निरन्तर स्वाध्याय एवं धर्म्य तथा शुक्ल ध्यान में रत रहना ही है।^{१४} भावरहित मुनि मोक्षपथ के अयोग्य हैं, इसके फलस्वरूप अचार्य कुन्दकुन्द भावपाहुड में श्रमण को भावशुद्धि में प्रवृत्त करने के लिए निर्देश करते हैं। महापुरुष भी इस कषाय परिणाम के कारण तद्भव मोक्षगामी होने के बाद भी सकषायी होने से मोक्ष-सुख का अनुभव न कर सके। अतः श्रमण का कषाय रहित होना आवश्यक है। इस सन्दर्भ में अष्टपाहुडकार ने कामदेव बाहुबलि, मुनि बाहु, द्वीपायन मुनि, अभव्यसेन मुनि का उदाहरण उद्धृत किया है। शुद्धभाव में मुनि शिवकुमार, शिवभूति मुनि के उदाहरण निर्दिष्ट हैं। सत्य ही है, भावरहित अध्ययन, मनन तथा अनुसरण का परिणाम शून्य होता है।

मोक्षपाहुड तो निर्वाणयोग्य उसे मानता है जो योगी देह के प्रति निरपेक्ष है, उदासीन, निर्द्वन्द्व, निर्ममत्व, निरारंभ तथा आत्मभाव में लीन है।^{१५}

जो प्रश्न करते हैं कि वर्तमान में भावलिङ्गी मुनि का अस्तित्व शंकास्पद है उनके लिए प्रत्युत्तर हेतु आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि पंचमकाल में मुनि रत्नत्रय युक्त हैं तथा इन्द्रादि पदों को भोगकर आगामी भवों में निर्वाण प्राप्त करते हैं।^{१६} किन्तु इतना निश्चित है कि वस्त्रधारी किसी भी अवस्था में मुक्ति का अधिकारी नहीं होता।

शोध-आलेख के आधारस्तम्भ प्रवचनसार, अष्टपाहुड तथा मूलाचार- ये तीनों ही ग्रन्थ आगम से/आप्तवचन से परिपूरित हैं। 'परम्परया आगच्छन्ति आगमाः' अर्थात् इन ग्रन्थों के कथन सर्वज्ञ कथित तथा गणधर गुम्फित हैं, अतः मूलस्रोत एक ही होने के परिणाम स्वरूप ग्रन्थ में यथार्थ तत्त्व का विवेचन है जो सर्वत्र एक ही है। सम्पूर्ण निचोड़रूप में जो प्राप्त होता है, वह योग्य तथा अयोग्य साधु की परिभाषा मात्र शब्दों का प्रपञ्च है, भाव तो सर्वत्र एक ही है।

सन्दर्भ :

१. णिव्वाणसाधए जोगे सदा जुंजंति साधवो।

समा सव्वेसु भूदेसु तम्हा ते सव्वसाधवो।। मूलाचार, ५१२.

८४ : श्रमण, वर्ष ५९, अंक ४/अक्टूबर-दिसम्बर २००८

२. सोह-गय-वसह मिय पसु मारुद सूरुवहिमंदरिदु मणी।
खिदि उरगंबर सरिसा परम पय विमग्गया सा। धवला १/१, १,१/गा०
३३/५१.
३. गिहिटथे य विहारो विदिओऽगिहिटथसंसिदो चेव।
एत्तो तदियविहारो णाणुण्णादो जिणवरेहिं। मूलाचार, १४८.
४. वही, १५१.
५. वही, १५२.
६. मूलाचार प्रदीप, श्लोक सं० २२२५, २२२६.
७. वही।
८. वही।
९. वही।
१०. हवदि व ण हवदि बंधो मदम्हि जीवेऽध कायचेट्टुम्हि।
बंधो धुवमुवधीदो इदि समण छड्डिया सव्वं। प्रवचनसार, ३/१९.
११. वही, ३/१७.
१२. वही, ३/३१.
१३. वही, ३/३४.
१४. वही, ३/३६.
१५. वही, ३/३८.
१६. संगहणुगहकुसलो सुत्तत्थाविसारओ पहियकित्ती।
किरिआचरणसुजुत्तो गाहुय आदेज्जवयणो य। वही, १५८.
१७. पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेदियसंबुडो जिदकसाओ।
दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो। प्रवचनसार, ३/४०.
१८. जे बीवीसपरीसह सहंति सत्तीसएहिं संजुत्ता।
ते होंति वंदणीया कम्मक्खयणिज्जरासाहु। सूत्रपाहुड, गा० १२.
१९. चारित्तसमारूढो अप्पासु परं ण ईहए णाणी। चारित्रपाहुड, ४२.
२०. जो संजमेसु सहिओ आरंभपरिग्गहेसु विरओ वि।
सो होई वंदणीओ ससुरासुरमाणुसे लोए। सूत्रपाहुड, ११.
२१. मूलाचार, १६८.
२२. वही, १७०.

२३. मूलाचार गा० १७० की आचारवृत्ति टीका का भावार्थ।
२४. प्रवचनसार, ६३.
२५. वही, प्रवचनसार ६४.
२६. दंसणणाणचरित्ते तवविणये णिच्चकाल सुपसत्था।
एदे दु वंदणीया जे गुणवादी गुणधराणं।। दर्शनपाहुड, २३.
२७. वही, १२.
२८. वही, २६.
२९. दर्शन पाहुड, गा० २७ की श्रुतसागरसूरिकृत टीका का भावार्थ।
३०. दंसणमूलो धम्मो ...। दर्शनपाहुड, गा० २.
३१. वही, ८.
३२. मूलाचार, १७१.
३३. वही, १७२.
३४. वही, १७४.
३५. प्रवचनसार, ३/६५.
३६. वही, ३/६७.
३७. मूलाचार टीका आचारवृत्ति, गा० १७५.
३८. वही, १७६.
३९. सत्तूमित्ते व समा पसंसणिंदा अलद्धिलद्धिसमा।
तणकणए समभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया।। - बोधपाहुड, ४७.
४०. वही, ४९.
४१. वही, ५१, ५२, ५३.
४२. मूलाचार, १७७.
४३. वही, १७९.
४४. बोधपाहुड, ५७.
४५. भावपाहुड, ५.
४६. मोक्षपाहुड, १३.
४७. मोक्षपाहुड, ७७.



ENGLISH SECTION

- Śvetāmbara Scholars on
Kundakunda: An appraisal Dr. Jagdish Prasad Jain
- Revising Buddhism in Mughal India:
Through the Seventeenth Century
Persian Literature Dabistan-
I Mazahib Dr. Damodar Singh
- Theory of Karma and Rebirth in
Theravāda Dr. Abha Singh
- Jainism, Art and Education-An overture Priti Kumari
- Practice of Brahmavihāra in
Theravāda Buddhism Archphurich Nomnian
- Consciousness in Sartrean and
Jaina Philosophy Samani Chaitya Prajna
- Women Working Class as reflected
in Buddhist Literature :
An analytical view Dr. Anita Singh
- Life Story of Ṛṣabhadeva Rudrani Mukerjee

Śvetāmbara scholars on Kundakunda: An appraisal

Dr. Jagdish Prasad Jain*

Kundakunda was an original thinker, an outstanding philosopher, a doyen of saints and a great scientist of the inner recesses of human nature. He is held in great veneration especially by the Digambara sect of the Jains, who remember him next only to Lord Mahāvīra and his apostle Gautama Gaṇadhara. His works are read by all scholars and he is much respected as one of the foremost representatives of the Jaina church. All great Digambara saints and monks take pride in tracing back their lineage to Kundakunda.¹

Every philosopher is unique in his own way. Hence, to say that there has been no philosopher like Kundakunda,² does not mean and should not mean denigrating or denying the significance of other Digambara philosophers and thinkers or those belonging to the Śvetāmbara tradition as also the scholars of Buddhism, Hinduism and other religions in their respective fields. However, if it is said, as is sometimes may be implied in the writings of some, that Kundakunda's works are supreme scriptures (*paramāgama*), as compared to other scriptures or canons (*āgama*) and for that matter are superior to or supersede all others, it is certainly an objectionable assertion. Kundakunda chose the language of the common man, i.e. Prakrit for communicating his ideas on spiritualism. He, therefore, liberally used *appā* (*ātmā* in Sanskrit), word belonging to Ardhmāgadhī (Prakrit language of Śvetāmbara canons), along with the use of word “*ādā*” (i.e. *ātmā*) of Śaurasēnī Prakrit language of Digambara *āgamas* (scriptures).³

Dr. Sagarmal Jain's Assessment of Kundakunda

Dr. Sagarmal Jain, a Śvetāmbara scholar, gives credit to Kundakunda for his *Samayasāra*, etc. “original works” (*maulika*

* *President, Jain Mission, New Delhi.*

racanā). What is significant is that Sagarmal candidly acknowledges that as compared to “Kundakunda’s establishment of spiritualism (*adhyātmavāda*) in *Samayasāra* from the point of view of principles (*saiddhāntika dṛṣṭi*), there is no attempt in that regard in Śvetāmbara canons”⁴ and this may be said to be deficiency observable therein. It is true, he says, that *Samayasāra* presents a serious, discerning, judicious, sensible, rational investigation and appraisal of soul and non-soul (*ātma-anātma viveka kā gambhīra vivecana*). It is also true, he further observes, that “Ācārya Kundakunda and Amṛtacandra are the greatest or topmost persons (*Śikhara puruṣa*) in presenting in logical and rational way the soul-non-soul discrimination (*viveka*).” Moreover, “their understanding, intelligence or wisdom (*prajñā*) is certainly praiseworthy (*vandanīya*). Their significant contribution in the field of spiritual study or knowledge (*adhyātma vidyā*) can never be forgotten.”⁵

But the contribution of philosophers and thinkers of Śvetāmbara tradition, Sagarmal remarks, in the field of philosophy, *anekānta* (doctrine of multifaceted nature of reality), literature, etc. is no less significant. This is perfectly a valid and correct statement and there is nothing wrong about this remark. However, his claim that Śauraṣenī Prakrit of Digambara scriptures, including *Samayasāra*, are based on Śvetāmbara canons in Ardhamāgadhī Prakrit, which are said to be ancient, i.e. of earlier period,⁶ is quite controversial and may not be correct. Moreover, his assertion that “just as in making Amṛtacandra as Amṛtacandra, Kundakunda’s contribution was the maximum, so also in making of Kundakunda as Kundakunda, the contribution of Jaina and Buddhist philosophers, such as Siddhasena Divākara and Nāgārjuna is significant”⁷ is incorrect, and smacks of sectarianism, based as it is on his contention that Śauraṣenī Digambara scriptures came into existence after 5th century A.D. and that Kundakunda flourished in the 5th-6th century A.D., i.e. posterior to Siddhasena Divākara. Proceeding on such assumption, he also mistakenly states that in order to understand Kundakunda’s *Samayasāra*, it is necessary to read *Mādhyamikakārikā* of Buddhism and *Māṇḍukyakārikā* of the Hindus.⁸

Sagarmal's assertions are similar to some other Śvetāmbara scholars, such as M.A. Dhaky, who feels that Kundakunda borrowed from Śvetāmbara canons, Siddhasena, and also from Yāpanīya. B.D. Bhatt claims that Kundakunda has borrowed from Nāgārjuna. According to Dhaky, if there are "strong parallelisms" between Kundakunda's *Samayasāra* on the one hand and Siddhasena's *Sanmati-prakarāṇa* (*Sanmati-tarka*) on the other, it must be Kundakunda who must have borrowed from Siddhasena because Siddhasena preceded Kundakunda.

The most biased attitude in regard to Kundakunda seems to be held by Dhaky. He holds the view that the Digambara sect possessed no *āgamas* (canons)⁹ and disagrees with Upadhye that Kundakunda's Śaurasenī Prakrit pertained/belonged "to the period when the *āgamas* were the common property of the Śvetāmbara as well as the Digambaras".¹⁰

Dhaky's criticism of Kundakunda's works, particularly *Samayasāra*

Based on his superficial reading of Kundakunda's *Samayasāra* and almost total neglect and ignorance about his other works, Dhaky holds several misperceptions about Kundakunda and mistakenly finds fault with his various concepts. These are:

1. Dhaky holds that in *Samayasāra*, Kundakunda "massively leaned toward the *niścaya-naya*" (the internal self-referential viewpoint), which Dhaky mistakenly translates as "absolutistic standpoint." Dhaky adds: "This *naya* (viewpoint), but not its profound implications, was known before, but its application was not done to the scale and extent by Siddhasena Divākara or even Mallavādī."¹¹ Dhaky's criticism about massively leaning toward *niścaya-naya* falls to the ground against the considered opinion of Paul Dundas, who finds nothing wrong with Kundakunda's assertion that "inner state has precedence and conditions the outer" and praises Kundakunda for effecting balance between "excessive formalization and ritualisation of behavior" and "excessive interiorisation of values."¹²

In regard to Kundakunda's exposition of *niścaya-naya* and *vyavahāra-naya*, it is significant to note the remark of Acharya

Mahaprajna, the present head of Terāpantha Śvetāmbara sect, that “Kundakunda cannot be constrained or bound in the limits of *nīścaya-naya*, though many scholars have attempted to constrain him in that way”¹³ and the views of Muni Dhananjaya Kumar of that sect, which places the two viewpoints of *nīścaya-naya* and *vyavahāra-naya* in their proper perspective (his remark is quoted in full, towards the end of this article).

2. Dhaky holds that on the basis of the *nīścaya-naya*, Kundakundācārya in theory views *ātman* or Self as separate from or independent of the association of *puḍgala* or matter as was done in the Sāṃkhya and Vedānta systems with the difference that *ātman* is not totally looked upon as totally inactive; Self does possess the faculty of knowing, intellection and creating as well as feeling emotive impulses within. Self is thus not a doer of deeds (*kartā*) and enjoyer of fruits (*bhoktā*) although, from the standpoint of external and practical relations (*vyavahāra-naya*), he may be regarded as a doer and enjoyer because of his emotional involvement, which leads to or colours his conscious thinking that way, this in fact being his habit to so orient since countless ages and for endless births. Now the ancient Jaina doctrine of *ātman* as the *kartā* and *bhoktā* from *nīścaya-naya* and *vyavahāra-naya* has never been interpreted or understood that way by any Jaina scholiast till the pre-medieval times and that too not before the Kundakundācārya’s doctrine was widely known.¹⁴

The above statement of Dhaky is based on several misperceptions and misrepresentations: (a) he has not fully understood the significance and the real meaning of Kundakunda’s ethico-spiritual standpoints particularly *nīścaya-naya* and *vyavahāra-naya*; (b) Dhaky does not seem to distinguish between *ātma* (soul, i.e. life’s inner spiritual conscious aspect or consciousness-as-such) and *jīva* (life’s bio-energies living aspect, i.e. empirical, embodied self); though the two terms are quite often used interchangeably; (c) he forgets that in the very beginning of his most important work *Samayasāra*, Kundakunda categorically states that *jīva* exists or is located in the neuro-physiological processes or brain states (*puḍgala* or physical karma), including body (*Samayasāra*, 2), that the empirical, embodied

self is found in association with matter (*puḍgala karma*) since beginningless time (*anādi*), as a result of which the neurophysiological processes act as the indirect, extrinsic, subsidiary or auxiliary cause (*nimitta kāraṇa*) of the changes or modifications in the conscious states, such as attachment, aversion, delusion, etc., *Samayasāra*, 80) and that Kundakunda discusses in detail the interaction between self and material or physical *karma*, including body, and offers a convincing and fruitful approach to solve the intricate problem of mind-body interaction;¹⁵ and (d) Dhaky has no clear perception or understanding in regard to Kundakunda's concept of self; Kundakunda specifically mentions that the self is *kartā* and *bhoktā* among the characteristics of self enumerated in *Pañcāstikāya*, verse 27.

3. Dhaky further states that: The unliberated self in Kundakunda's concept... is always pure and not contaminated by *karmaraja* (material *karmic* dust) as was otherwise believed till late, even in the Digamabara sect. The apparent contamination with *karma* and its consequent and subsequent fruition are due to *bhāva* or inner consciously felt or willed emotional directives of the self. It is thus illusory.

The self goes on wandering from birth to birth because he has not known what it really is and this is what keeps it in apparent bondage.¹⁶

This unjustified criticism is again based on Dhaky's misrepresentation of Kundakunda's views about the self, and his failure to recognize Kundakunda's significant contribution in regard to mind-body interaction or the interaction between mental states and the material (*dravya* or *puḍgala*) *karman*, which are mutually related as cause and effect, each of the other (*Samayasāra*, 80). In *Pañcāstikāya*, (verse 27), Kundakunda categorically states that the self is *karma-saṃyukta*, i.e. associated with material *karma* since the beginningless time and hence not pure. As already stated, in *Samayasāra* too, Kundakunda specifically states that the self (*jīva*) is located in *puḍgala* (material) *karma*. In view of these clear-cut statements, Kundakunda

can under no circumstances be accused of speaking of *karma*'s association with self "as apparent contamination" or "illusory".

4. Dhaky has also failed to grasp the significance of Kundakunda's important concept of *sva-samaya* and *para-samaya* and for that matter accuses him of "completely" redefining these terms which, according to Dhaky's mistaken belief, "for long had been understood as the 'doctrine of one's own sect' and 'the doctrine of the other sect.'"¹⁷ In view of Kundakunda's clear-cut and categorical statement in *Samayasāra*, (verse 2) that *sva-samaya* is the mode of consciousness with reference to cognition, feeling and action, and that *para-samaya* is the mode of consciousness of attachment, etc., in which *puḍgala karma* acts as an indirect, extrinsic, auxiliary cause (*nimitta kāraṇa*), Dhaky's meanings of these terms is quite far fetched. Dhaky's mistaken belief in regard to the use of these terms seems to be based on the wrong translation of verses III.47 and 67 in Siddhasena's *Sanmati-tarka* or *Sanmati-sūtra*.¹⁸ A close reading of these two verses and particularly III.47 reveals that these verses have nothing to do with "heresies" or "Jaina and non-Jaina doctrines",¹⁹ but are conceived in the context of Jaina doctrines of *nayavāda* (standpoints) and *anekāntavāda* (multifaceted nature of reality) in the sense of "Samantabhadra's profound dialectical and epistemological works".²⁰ In verse III.47 of *Sanmati-tarka*, Siddhasena also declares "that there are as many *para-samayas* as there are standpoints (*nayavāda*)."

Nayavāda (The doctrine of Standpoints) is concerned with a particular aspect of an object. As a standpoint, *naya* grasps only a part or an aspect of a thing and is expressive of a partial truth about an object. It should not, however, rule out, reject or deny the other standpoints, and put forward its partial truth as the whole truth. *Para-samyas* are the standpoints of those partial truths, which are one-sided and unrelated to or independent of other standpoints and are therefore, considered false and faulty (*nirapekṣa-naya mithyā*, Samantabhadra, *Āpta-mīmāṃsā*, verse 108). Siddhasena himself has put the same point in these words :

“All these standpoints (*nayas*) are right in their own respective spheres - but if they are taken to be refutations, each of the other, then they are wrong. But a man who knows the ‘non-one-sided’ nature of reality never says that a particular view is absolutely wrong” (*Sanmati-tarka*, I.28)

Devendra Kumar Shastri, the editor and translator of *Sanmati-sūtra*, states: “Besides Kundakunda and Umāsvāmi” the influence of Samantabhadra “is clearly discernible on *Sanmati-sūtra*” and that “there is absolutely no doubt that while composing the *Sanmati-sūtra*, Siddhasena had before him the *Āpta-mīmāṃsā* and the *Svayambhū-stotra*”²¹ of Samantabhadra.

5. Continuing his diatribe against Kundakunda’s use of *sva-samaya* and *para-samaya* in the context of Jaina doctrines, Dhaky further states:

According to Kundakundācārya, *sva-samaya* is the one which relates to *ātman*, the *para-samaya* meant anything outside *ātman*, including one’s body. This is an absolutely different way of looking at the connotation of the terms, indeed not referred to by even southern Jaina writers.²²

Kundakunda’s statement that *jīva* (self) or *ātman* (soul) exists in material (*pudgala*) *karma* (*Samayasāra*, 2), including *no-karma*, i.e. body, which acts as an auxiliary cause (*nimitta-kāraṇa*) for attachment etc. mode of consciousness, completely denies Dhaky’s mistaken assertion that according to Kundakunda “*para-samaya* meant anything outside *ātman* including one’s body”.²³

The only good point for which Dhaky seems to give credit to Kundakunda is in regard to creating third category of *śuddha* (pure) disposition of *ātman* or self, besides the “two categories of *śubha* (auspicious and desirable) and *aśubha* (inauspicious and undesirable)”²⁴ psychic dispositions.

6. Dhaky also criticises Kundakunda for adopting his concepts about the way of looking at self from Vedānta “but in a modified

way.”²⁵ Since Dhaky is not the only person who finds fault with Kundakunda for seeking “to shape Jaina religion after the mould of Vedānta”,²⁶ it is necessary to point out that the basic differences between Kundakunda’s exposition of self and Vedantic concept of self.

In Advaita Vedānta, the words *jīva* and *ātmā* have quite different meanings or connotations. In fact, they stand poles apart. For instance, *ātmā* is translated as Self (with capital ‘s’), which is described as *Brahman* (universal or cosmic consciousness), one without a second, non-dual, eternal entity, having characteristic features of “unchanging” and “pure”. *Jīva* on the other hand, is equated with person and is conceptualized as an individual or ego-self, having the sense of self or individuality, which manifests in the experience, as the “I” and the “me”, with its most distinctive features of pride, conceit and even arrogance (*abhimāna, garva*).²⁷ Individuals or persons, who speak of their “self” in terms of three aspects or fundamental capacities: cognition, feeling and action, are viewed as manifestations of the ego.²⁸

In Jainism, including Kundakunda, the self (*jīva* or *ātmā*) is individual consciousness and the world consists of innumerable individual selves. While in Vedānta ‘*ekah*’ signifies ‘non-dual’, Kundakunda, in his work *Samayasāra* (verse 38 and 73), uses the word *ekko* (in Prakrit and *eka* or *ekah* in Sanskrit) in the sense of meaning one, unique, single of its kind, uncompounded, unity, and unit. Thus, Kundakunda’s *ekko* is not the Vedantic “non-dual”, but an indivisible unity of its three attributes, characteristics or three aspects of consciousness, viz. feeling, cognition and action, and its modes.

Kundakunda also speaks of *aham* (I, *jīva*, or *ātmā*) as *śuddho*” (in Prakrit, *śuddho* or *śuddham* in Sanskrit) (*Samayasāra*, 38 and 73) but not in the sense of purity/impurity or being devoid of *karmas* (*karma-rahita*), i.e. “pure consciousness”, but in the sense of being non-relational (*karma nirapekṣa*) consciousness-as-such (*pāriṇāmika*

bhāva), which is neither pure nor impure though having the potentiality to become pure by getting rid of *karmas* and in the sense that *jīva* (soul or conscious entity) can never become non-soul, or non-living (*ajīva*) material entity and *ajīva* can never become *jīva*; and that it can never assume or have the characteristic attributes of touch, taste, smell, etc. of non-living material entity or its modes or states of evolution (Amṛtacandra's Commentary on *Samayasāra*, 6). The word 'śuddho' or 'śuddha' in Prakrit or 'śuddha' in Sanskrit means not only pure [in the sense of], faultless or blameless but also simple, unmixed, unequalled, alone, only (*kevala*), exclusively one's own, uncompounded, entire, whole.²⁹ Moreover, in Jainism, including Kundakunda, the self is never "unchanging" or changeless but a dynamic, evolvent entity (*pariṇāmī-nitya*), something stable in the midst of its changes, persisting through its modes, or one characterized by both continuity and change.

Dhaky's Views in regard to the Date of Kundakunda

As regards the date of Kundakunda, A.N. Upadhye, in his extensive introduction to *Pravacanasāra*, has dealt with that subject in great detail.³⁰ After examining the pros and cons of different views and arguments, he fixed his date in the beginning of the Christian era, which is generally accepted by Digambara Jaina scholars. Regarding Kundakunda's priority or posteriority to Umāsvāti, F.W. Thomas, in his 'Introduction' to *Pravacanasāra*, translated by Barend Faddegon, places Kundakunda prior to Umāsvāti. He observes: "Neither of the two writers makes mention of the other; but there are certain general considerations which seem to favour a priority on the part of Kundakunda." As for Umāsvāti, Jacobi assigns him a date before the 6th century A.D., while Von Glasenapp speaks of the 4th or 5th century A.D, Thomas remarks. Walter Schubring, in the *Doctrine of the Jains*,³¹ places Kundakunda in the 2nd-3rd century AD. Dhaky, however, criticizes Schubring by stating that his opinion was based largely on "the cursory observations made by pioneering German writers in Jaina Canonical literature".³² According to Dhaky,

the contemporary Śvetāmbara writers, such as Muni Kalyāṇa Vijaya, Pt. Sukhlal Sanghvi, Pt. Dalsukh Malvania and K.K. Dixit place Kundakunda posterior to Umāsvāti (375-400 AD) and Siddhasena Divākara (active first half of 5th Century AD).³³ [Upadhye puts the date of Siddhasena between 505-609 AD, i.e. in the 6th Century.]

Of all the Śvetāmbara Jaina scholars, M.A. Dhaky alone is bent on denigrating to the maximum the image of Kundakunda by calling his teachings “unacceptable”,³⁴ and pushing his date “to the latter half of the eighth Century.” His main arguments in this regard and against fixing Kundakunda’s date at the beginning of the Christian era are:

(1) Why he (Kundakunda) “is not referred to ...anywhere overtly, clearly, or even indirectly implied in the writings of Digambara Jaina thinkers, epistemologists, and scholiasts like Svāmī Samantabhadra (active c. AD 575-625), Pūjyapāda Devanandī (active c. AD. 635-685), and Bhaṭṭa Akalaṅkadeva c.AD 720-780), the trio held in the highest esteem in the Digambara Church.”³⁵

In this regard it may be said that there are several mis-statements in Dhaky’s assertion:

(a) Samantabhadra flourished in the 2nd Century A.D. and Pūjyapāda lived earlier than the last quarter of the 5th Century A.D. and most probably in 4th-5th Century A.D.³⁶

(b) Pūjyapāda is greatly indebted to Kundakunda for the concept of three selves: the external self or *bahirātmā* (one engrossed in sensual pleasures), inner self or *antarātmā* (one having self-discipline, righteousness, detachment, etc.), and *paramātmā*, (i.e. supreme soul or pure self),³⁷ which Dhaky says “is totally unknown in Jaina [Śvetāmbara] writings”.³⁸ This indeed was one of the great spiritual insights given by Kundakunda to the world. But proceeding from his mistaken assumption that Kundakunda flourished in the 8th Century AD. Dhaky thinks that Kundakunda “possibly took these terms” from Pūjyapāda, who in turn must have adopted these terms from

Upaniṣads. Dhaky's translation of *bahirātmā* as "outer self, or outer body" and *paramātmā* as "Absolute Self"³⁹ reflects his total ignorance of the Jaina concept of *Paramātman*, which is quite different from the Upaniṣadic *Brahman* as explained by Upadhye⁴⁰ and the present writer.⁴¹ Moreover, several verses in Pūjyapāda's works *Iṣṭopadeśa* and *Samādhi-śataka* correspond to and are almost exact reproductions of verses in Kundakūnda's works; and

(c) Since unlike Pūjyapāda, Samantabhadra and Akalaṅka were epistemologists, logicians, there is nothing unusual if they did not refer to or quote from Kundakūnda's spiritual works. Moreover, following Dhaky's logic one may ask that if Kundakūnda belonged to a later date than these three Digambara thinkers, then why did Kundakūnda not refer to them in any of his works. It may be that in those days it was not so easy to come across other thinkers' hand copied works, even when those works belonged to their own tradition. Hence, merely on the basis that the works of one thinker were not referred to by the others it cannot be decided as to who preceded and who followed.

(2) Secondly, Dhaky states that why no commentaries were written on Kundakūnda's works "for eight or nine centuries that may have followed his writings".⁴²

In this regard, the following observation of Śvetāmbara Jaina scholar Sagarmal Jain is quite relevant. He states:

The use of paper was not common in India and the practice of getting books/scriptures written on *bhojapatra* or *tāḍapatra* leaves and preserving them was against the mental disposition (*bhāvanā*) of non-violence and non-possessiveness of the Jaina ascetics (*munis*). Also up to 5th Century AD, this type of work was considered a sinful activity for which there was legal system of punishment.⁴³

Accordingly, the task of preserving and keeping in safe custody the manuscripts of canons/scriptures of Digambara tradition written on *tāḍapatras* in South came to be performed by the Bhaṭṭārakas, who were head of religious establishments (*matha*) and as such were not considered Digambara ascetics.

These Bhaṭṭārakas guarded these treasures of Jaina texts like precious jewels and were very strict in not letting people even have scent of these manuscripts in their possession, lest there was every risk and danger of these being burnt or destroyed by those opposed to Jainism. How a copy of one of the two ancient (2,000 years old) most sacred Digambara scriptures/canons *Ṣaṭkhaṇḍāgama*, together with *Dhavalā* commentary thereon written in 9th Century A.D., came to be smuggled out of the custody of the Bhaṭṭāraka of Mudbadri in Karnataka (India) and translated, published in Hindi and made available to the world only in the 19th Century, indeed makes it a very thrilling, adventurous story. In these circumstances, it is not at all surprising, if Kundakunda's works, including *Samayasāra*, could not come to light before Amṛtacandra wrote his commentary thereon in the 9th-10th Century AD.

(3) Dhaky wants to push Kundakunda's date to the latter half of the 8th Century A.D also on the ground of the content of his works. He states: his [Kundakunda's] highly advanced thought-constructs, fresh concepts, new epistemological positions, novel approaches to and new interpretations, as well as fresh application of old knowledge, and the concomitant or relevant terminological jargon (which is far ahead of the canonical literature), clearly indicate that he cannot be an early author. Kundakundācārya's style of writing is in effect far advanced compared to any exhibited in the available early *nirgrantha* writings in Ardhamāgadhī and other Prakrits. His own verses in his works show powerful articulations and strong directness and acuity combined with subtleties, precision [etc.]. If he (Kundakunda) were to flourish in the 1st century B. C. - A.D. His style of writing and phraseology then would have been archaic, the jargon as well as the concepts and their presentation would have been far less advanced than is apparent in his writings.⁴⁴

It is only with the avowed intention to push Kundakunda to a later date that Dhaky states that the "context of Kundakunda's works when compared to Umāsvāti is more advanced in terms of concepts as well as exposition"⁴⁵ and that Kundakunda is "fully aware of the

terms *syādvāda* and *saptabhaṅgī* both of which are unknown in the works of Umāsvāti as well as of Siddhasena, but known to Samantabhadra”.⁴⁶ Why cannot Dhaky digest the fact that since Lord Mahāvīra’s teachings being the common property of both Digambaras and Śvetāmbaras continued to be preserved through being memorized by the ascetic saints of both sects and as time passed quite a number of ideas and concepts could remain with Digambara *ācāryas/saints*, including Kundakunda, and found in Digambara canons/scriptures.

Also why cannot Dhaky accept the fact that like Mahāvīra, Buddha and others, Kundakunda could be far ahead of his times and his concepts can be relevant even today and attract the attention of people interested in spiritualism? He ignores the fact that whether Umāsvāti was the disciple of Kundakunda (as many Digambara scholars believe) or not (as Śvetāmbara scholars believe) and irrespective of the fact as to who preceded or followed, Kundakunda was Kundakunda because of his spiritual insights and creative thinking and his delving deep into the psycho-spiritual aspects of human nature. Unlike Sagarmal Jain, Dhaky does not think that Kundakunda was an original thinker (this is quite apparent from his mention of “original” in quotes⁴⁷ before Kundakunda’s teachings). Dhaky blames Kundakunda for “unacceptable teachings”,⁴⁸ he yet speaks of “his competence in the highly original exposition and interpretation of some of the *Nirgrantha* doctrines, not to say of his profound conversance with the traditional Jaina dogmas”⁴⁹ and of his making “conceptual improvements”, which were “earlier unknown” in Jaina texts.⁵⁰

Appreciation of Kundakunda by Śvetāmbara Scholars of Terāpantha Sect

Not all Śvetāmbara scholars agree to Dhaky’s views that Kundakunda belonged to the latter half of the 8th Century A.D. and that his teachings are “unacceptable”, etc. The prescribed text for M.A. course on “Jaina Religion and Philosophy” of Jaina Vishva Bharati, Ladnun (Rajasthan, India), run by the Terāpantha sect of Sthānakavāsī Śvetāmbara Jaina, categorically states:

The systematic history of Jaina philosophical literature and of both Digambara and Śvetāmbara *ācāryas*, begins from 1st century AD, Kundakunda was the great influential *ācārya* (spiritual preceptor or guide, a founder or leader of a sect, or a man of distinguished learning) of this century, that he preceded Umāsvāti, Samantabhadra and Siddhasena, that his work *Samayasāra* is like a great river, and that the discussion on knowledge and knowable in Kundakunda's works subsequently became the foundation of Jaina philosophy.⁵¹

Moreover, in his preface to the book *Samayasāra: Niścaya aura Vyavahāra Kī Yātrā* (*Samayasāra: The Journey of Vyavahāra and Niścaya*), Yuvacharya Mahaprajna, the present head Ācārya of Terāpantha Śvetāmbara sect, observes:

Ācārya Kundakunda was a great spokesman and guide of spiritualism (*adhyātma*)... *Samayasāra* is the representative treatise on spiritualism (*adhyātma*). It is one of the first rank books in the world literature on spiritualism (*adhyātma*). It is not easy to understand the deep insights contained in this work. Kundakunda cannot be constrained or bound in the limits of *niścaya-naya*, though many scholars have attempted to constrain him in that way.⁵²

Śvetāmbara Muni Dhananjaya Kumar, in his editorial to the above-mentioned book, endeavored to remove the misunderstanding and prevalent confusion among scholars, who accuse Kundakunda of “massively” leaning towards *niścaya-naya* and of ignoring or even negating *vyavahāra-naya* altogether, in these words:

Vyavahāra is necessary to lead one's life in society and fulfill one's social responsibilities and relationships, but *niścaya* represents higher truth in that it helps in making that life pure, i.e. peaceful and happy, and ensuring successful adjustment of social relationships. If *niścaya* is *darpaṇa* (mirror), then *Vyavahāra* is its *pratibimba* (reflection, image or shadow); if *niścaya* is an ideal (*ādarśa*), then *Vyavahāra* is its *kasautī* (touchstone, test, proof, criterion); whatever is the value of *pratibimba* and *kasautī*, the value of ideal and *darpaṇa* is much more; for us that *niścaya* is useful which is reflected in *vyavahāra* and that *vyavahāra* is an ideal for us, which is inspired by

niścaya; if one has to lead a peaceful, pure and successful life, its secret formula (*sūtra*) is proper balance (*santulana*) between *niścaya* and *vyavahāra*. The problem is . . . we are quite familiar with the world of *Vyavahāra* and we are completely unfamiliar with the world of *niścaya*. . . . The message is only this: in the world of *Vyavahāra*, let *niścaya* not disappear; we remain established in *niścaya* and live life of *vyavahāra*; the consciousness should not get stuck in material objects but realise the truth beyond matter.⁵³

If one is to believe in Śvetāmbara canons, Lord Mahāvīra is said to have made use of *niścaya* and *vyavahāra* viewpoints with a view to reconcile the contradictory statements. When Gautama asked him about the colour, smell, taste and touch of raw sugar (*gur*), Mahāvīra replied that from *vyavahāra* point of view, it is said to be sweet. But from the *niścaya* standpoint, it has five colours, two smells, five tastes and eight touches. Asked about a large black bee (*bhramara*), he replied that from *vyavahāra* point of view, it is black, but from the *niścaya* stand-point, it has five colours, two smells, five tastes and eight touches. In the same way, he is said to have analyzed many issues from *vyavahāra-naya* and *niścaya-naya*.⁵⁴

From what is stated above, it appears that Kundakunda may not be the original propounder of the internal, self-referential *niścaya-naya* and external, other-referential *vyavahāra-naya* in the ethico-spiritual context. However, there is not the least doubt that not only the systematic exposition and the profound implications of the ethico-spiritual viewpoints of *vyavahāra-naya* and *niścaya-naya*, as well as their application on such a wide scale and extent in the ethico-spiritual perspective as we find in Kundakunda's works, has never been known or heard before and after in any of the Śvetāmbara and Digambara Jaina scriptures as also the scriptures of other philosophical systems.

Reference

1. See Jagdish Prasad Jain, *Salvation through Self-Discipline: Niyamasāra of Kundakunda* (New Delhi: Radiant Publishers, 2005), Introduction, pp. 130-147. For detailed discussion in this regard, his different names, biography, spiritual

- parentage, his date, his different works and critical remarks on them, see A.N. Upadhye, *Sri Kundakundācārya's Pravacanasāra* (Agas, 1984), Introduction, pp. 1-46,
2. Sudip Jain, editorial in *Prakrit Vidya* (New Delhi: Kundakunda Bharati), January-March 1996.
 3. Sagarmal Jain, *Shraman* (Varanasi: Prashwanath Vidyapeeth), October-December 2001, p. 19.
 4. *Ibid.*, p. 4.
 5. *Ibid.*, pp. 39 and 41.
 6. *Ibid.*, p. 4.
 7. *Ibid.*, p. 41.
 8. *Ibid.*, p. 40.
 9. M.A. Dhaky, "The Date of Kundakunda," in M.A. Dhaky and Sagarmal Jain, eds., *Aspects of Jainology*, Vol. III : Pt. *Dalsukhbhai Malvania Felicitation*, Volume (Varanasi: P.V. Research Institute, 1999), p. 188.
 10. *Ibid.*, p. 205.
 11. *Ibid.*, p. 198.
 12. See *Salvation through Self-Discipline*, n. 1, pp. 132-133.
 13. Mahaprajna, Yuvacharya, *Samayasāra: Niścaya aura Vyavahāra kī Yātrā*, edited by Muni Dhananjaya Kumar (Ladnun: Jain Vishva Bharati, 1992), *Prastuti*, pp. v-vi.
 14. Dhaky, n. 9, p. 198.
 15. See Jagdish Prasad Jain, *Fundamentals of Jainism* (New Delhi: Radiant Publishers, 2005), pp. 24-40. and Jagdish Prasad Jain, "Jaina Psychology" in K. Ramakrishna Rao, et al, ed., "*Handbook of Indian Psychology*" (New Delhi: Cambridge University Press India Pvt. Ltd, Under the Foundation Books imprint, 2008), pp. 69-71.
 16. Dhaky, n. 9, p. 198.
 17. *Ibid.*, p. 199.

18. Sukhlal Sanghavi and Bechardas Doshi, *Sanmati-tarka*, tr. by A.S. Gopani (Ahmedabad: L.D. Institute of Indology, 1939), pp. 164 and 182.
19. Devendra Kumar Shastri, ed. and tr., *Sammaisuttam*, (*Sanmatisūtra*) (New Delhi: Bharatiya Jnanapith, 2003), pp. 140-141 and 154-155.
20. Dhaky, n. 9, p. 188.
21. Devendra Kumar, n. 19, p. 38.
22. Dhaky, n. 9, p. 199.
23. *Ibid.*
24. *Ibid.*
25. *Ibid.*, p.198
26. Nathuram Premi, cited in Pt. Sukhlal's commentary on *Tattvārtha-sūtra of Vācaka Umāsvāti*, translated by K.K. Dixit (Ahmedabad: L.D. Institute of Indology, 1974), p. 112.
27. See *Handbook of Indian Psychology*, n. 15, pp. 266, 256 and 263.
28. *Ibid.*, p. 253
29. Monier Monier Williams, *Sanskrit English Dictionary* (Delhi: Motilal Banarsidass Publishers, 1999), pp. 1082 and 310
30. See Upadhye, n. 1, Introduction.
31. Dhaky, n. 9, pp. 199-200.
32. *Ibid.*
33. *Ibid.*, p. 187.
34. *Ibid.*, p. 189.
35. *Ibid.*, p. 187.
36. See Jagdish Prasad Jain, "Foreword," in D.K. Goyal, *The Path to Enlightenment: Svayambhū-stotra* by Ācārya Samantabhadra Svāmī (New Delhi: Radiant Publishers, 2000), and Upadhye, n. 1, Introduction, p. 21.

37. Jagdish Prasad Jain, ed., *Spiritual Insights: Iṣtopadeśa and Samādhi-śataka* by Pūjyapāda, tr. by C.R. Jain and Raoji N. Shah (New Delhi: Radiant Publishers, 2000), Introduction, pp. 12-15.
38. Dhaky, n. 9, p. 199.
39. *Ibid.*
40. Upadhye, n. 1, Introduction, p. 88.
41. Jagdish Prasad Jain, n. 36, Foreword, pp. xii-xiii.
42. Dhaky, n. 9, p. 188.
43. Sagarmal Jain, n. 3, p. 18.
44. Dhaky, n. 9, pp. 197 and 199.
45. *Ibid.*, p. 200.
46. *Ibid.*, p. 199.
47. *Ibid.*, p. 187.
48. *Ibid.*, p. 189.
49. *Ibid.*, p. 191.
50. *Ibid.*, p. 199.
51. M.A. Course, First Year, *Jaina Itihāsa* (Jaina History), Volume 1, pp. 1/1/5/15/1 to 15/4 on Kundakunda.
52. Mahaprajna Yuvacharya, *Samayasāra: Niścaya aura Vyavahāra kī Yātrā*, n. 13.
53. *Ibid.*, Editorial, pp. vii-viii.
54. *Bhagavatī Sūtra* 18.6, cited in Dalsukh Malavania's, *Āgama Yuga kā Jaina Darśana* (Jaipur: Prakrit Bharatī Academy, 1990), p. 121.



Revising Buddhism in Mughal India Through the Seventeenth Century Persian Literature Dabistan-I Mazahib

Dr. Damodar Singh *

Sixth century B. C. witnessed many religious movements in different parts of the world. Herlitus in Ionia Island, Zoroastrian in Persia, and Confucius in China preached new doctrines. In India too there was an upheaval of new ideas leading to rise of new philosophical tenets and religious sects.¹ An important one among them was Buddhism, which spread fastly, and soon proved to be the most popular religion among its contemporaries, and at one time became the most prominent religion not only in India but in entire Asia.² Simultaneously, for many centuries the religion also played a pivotal role in the political developments of India. In this backdrop, Gautama Buddha,³ his teachings and the tenets held by the Buddhists has gained much importance, and, in consequence, they are found in various language and literatures. Giving due importance - historically, as well as religiously to Buddhism, the Persian litterateurs of Mughal India also penned down about it. This paper is an attempt to trace Buddhism through the prism of one of the most important Persian literatures of Mughal period, namely the *Dabistan-i Mazahib*.⁴ The author of this book is anonymous, variously named or identified as Movad, Muhasin Fani, Mirza Zulfiqar Beg and Kaikhusro Isfander. This Persian literature, completed in or a little after 1656, is devoted to the survey of religions and their sects. It aims at covering six religions and their sects in twelve chapters or Tālim. Information about Buddhism is found in the second Tālim. Here it would be worth mentioning that all the thoughts about the various religions, including Buddhism, expressed in the *Dabistan-i Mazahib*, are based not only on textual readings, but also on personal 'Field work by the

* Head, Deptt. of History, B. S. College, Danapur, Patna

author',⁵ In other words, the author claims to have seen and even met the people, and wrote only after having first hand experience. Accordingly, he came across the followers of Buddhism in and around Jodhpur and Rawalpindi (presently in Pakistan) some of them being well off - and wrote down his experiences.

Buddhism in Dabistan-I mazahib

The *Dabistan* has given the details about the tenets (beliefs) held by the Buddhist monks.⁶ In this Persian literature a sect of Buddhist monks has been referred as *Jati*, quite apparently meaning *Yati*.⁷ The Persian literature has given details about the their beliefs, life and functions.

The *Yatis* keep their head and face clean shaved. They are well-learned men, and pass their life in celibacy and sanctity. They possess supernatural powers. They do not believe in incarnations or *Avatārs* of the Deity, but they do accept the transmigration of the soul in different bodies.

The *Yatis* take utmost care of not hurting / killing any living being.⁸ The author of the *Dabistan* had some opportunities to personally see to what extent the *Yatis* go to save the life of a living being. The author has sited one case of Rawalpindi. There a *Yati* named Jagna saw a bird in the hands of a fowler. In a bit to save the life of the bird, he bought the bird and, then, set it free.

The *Yatis* avoid interacting with women.⁹ They deny several dogmas of Hindus, for they detest the Brahmanical doctrines.¹⁰ In case any misfortune happens to any *Yati*, the other *Yatis* point an accusing finger towards the Brahmanas and sarcastically say that 'the unfortunate *Yati* must have done something good to a Brahman, and resultantly the misfortune fell on him.'

Mostly the *Baniyās* or traders are followers of this sect.¹¹ They have high regard for the *Yatis*. Whenever a *Yati* comes to their house for food, they try their utmost to completely satisfy the *Yati*. However, the *Yati* does not take advantage of it, and takes only as

much food so that it may not cause any food scarcity in the house they are visiting.

The followers of this sect of Buddhist monks are divided into two classes- (1) *Lunungi* and (2) *Pujārīs*. The former one considers God to be perfect, free from all contradictions, descents and conjunctions. However, they are not idol worshippers. The *Pujārīs*, on the other hand, venerate the image of deity and have temple for it.

Just like the *Yatis*, there is another sect of Buddhist monks called *Mahā-ātmā*. They have dress and appearance similar to that of the *Yatis*. However, they lead a married and material life.

Critical Observation:

1. The author of the *Dabistan* has apparently misinterpreted the facts when he says that the Buddhist monks - i.e. the *Yatis* - avoided interacting with women. As a matter of fact, though initially Buddha, perhaps out of a sense of realism, wanted his followers to keep away from women, but in due course, upon the intercession of Ānanda (a prominent follower and nephew of Buddha), he permitted women into the order. Buddha even approved the creation of Order of Nuns parallel to the Order of Monks. In due course, contrary to the general belief, the nuns seem to have played some influential role in the history of Buddhism. For, if the records in the *Therīgāthā* are of any historical value, it may be believed, on their authority, that of the eighty prominent disciples of Buddha, as many as twelve-including Mahāprajāpati (Buddha's aunt and foster mother), Khemā (wife of king Bimbisāra of Magadh), Dharmadinā and Kisā Gotamī-were women. In the backdrop of the active participation of women in Buddhist activities, it must have been practically impossible for the *Yatis* to stay away from women.¹²

2. The author is on the wrong foot in mentioning about transmigration of soul in different bodies. On the contrary, as per Buddhist belief, there is no transmigration of soul from one body to another. There is mere continuity of the same series of mental processes. The last mental act ceases, and transmits its casual energy

to the first mental act in a new embryonic germ-cell. The last conscious act dies away; another conscious act arises in a new organism. This is called rebirth. In rebirth there is transmigration of character from last conscious act in one life to first conscious act in the next life. Explaining it, Dr. Rhys Davids has rightly opined that Buddha did not teach transmigration of souls. “What he did teach would be better summarized as transmigration of character.”¹³

3. The founder of the faith, Gautama Buddha, never claimed to have supernatural powers. In fact, Buddha was the founder of the doctrine of Dependent Origination (*pratītya-samutpādavāda*) and he, therefore, ruled out the possibility of any kind of miraculous happenings.¹⁴

However, later on, Tantrism found its way into Buddhist theology.¹⁵ Apparently indicating about it, the author has claimed that the *Yatis* possessed the so-called super-natural powers.

4. The author states that he found the *Baniyās* (business class) to be the followers. However, it is a well known justified fact that all along the *Baniyās* have mostly been the followers of Jainism and not Buddhism, living in several parts of India, including Marwar (Jodhpur), even during the Mughal days. It, therefore, appears that the author mistakenly considered them to be the followers of Buddhism.

5. The writer has wrongly termed the sect leading married and material life as ‘*Mahā-ātmā*’. It should actually be ‘*Mahāyāna*’ and not ‘*Mahā-ātmā*’. Perhaps this mistake was due to the language barrier the author must have faced. It may be noted that the *Mahāyāna* emphasizes the monk’s life of householder; and *Hīnayāna* emphasizes the life of renunciation.

6. Nowhere do we come across *Lunganis* or *Pujārīs* in Buddhist history. As far as worshipping is concerned, it was the *Mahāyāna* sect who regarded the Buddha as the transcendental, eternal and absolute, and, thereupon, worshiped him.

7. The author claims to have got the opportunity to personally meet some Buddhists in Jodhpur and Rawalpindi, and he wrote about them only after watching them from close quarters and having interaction with them as well. If this were true, then it gives a clear message that, contrary to general notion, Buddhism had not completely vanished from India till mid of seventeenth century, i.e. till the author wrote his book. Its followers were at least in and around Jodhpur and Rawalpindi.

However, quite surprisingly, the author does not mention about the presence of the followers of Buddhism in any other province of India. It is interesting to note here that Abul Fazl, the author of the prominent Persian literature of the Mughal India, the *A'in-i Akbari*, written in the end of sixteenth century, has explicitly mentioned that he personally came across several Buddhists in and around Kashmir.¹⁶ If Abul Fazl's information about the presence of the Buddhists in Kashmir were true, then it is quite unlikely that they were completely wiped out from the region within half a decade. However, the *Dabistan-i-Mazahib* has maintained a perturbing silence about the presence of the Buddhists in Kashmir, which was one of the most favorite resorts for all the pleasure loving Mughal kings, particularly Shah Jahan during whose period the book was written. And no serious author of the period, especially writing about the socio-religious conditions of the era, would prefer to completely overlook the area. In this backdrop, quagmire of the *Dabistan-i-Mazahib* about the Buddhists of Kashmir is very baffling.

The same accusing finger may be raised towards the *A'in-i Akbari* as well, which was written about fifty years before the *Dabistan-i-Mazahib*. Abul Fazl also mentions about the presence of the Buddhists in Kashmir only; and, on the other hand, the *Dabistan* would like to make us believe that the followers were indeed in Jodhpur and Rawalpindi in mid seventeenth century. In the backdrop of the well known fact that Abul Fazl's mentor Akbar was in direct and regular contact with the region of Marwar (modern Jodhpur), and

also that Abul Fazl finalized the books only after getting the contents approved personally by the Akbar, whose liberalism and curiosity about all the religions - not to exclude Buddhism - is well known, Abul Fazl's silence in regard to the Buddhists of Jodhpur is quite intriguing.

In this way we are able to trace Buddhism in the Persian literature, the *Dabistan-i-Mazahib* and come to know about their presence in India in seventeenth century. Of course the information about Buddhism and the Tenets held by their followers, given in the Persian literature, is brief and at times the author is caught on the wrong foot regarding some facts. At times we also observe that the author has presented an admixture of early Buddhism and later Buddhism.

One should bear in mind that the Persian literature under review is considered to be one of the most authentic sources of 17th century Mughal India. The book was written during a period when Buddhism was considered to have practically vanished from almost entire India. Additionally, the author must have faced the language barrier, for the materials on Buddhism were mainly available in Sanskrit and Pāli languages. However, more importantly, the bottom line is that the author has tried to make us believe that the followers of Buddhism were in India in 17th century, and he found Buddhism to be important - both historically and religiously - enough to be given appropriate attention as well. It bears testimony to the fact that the litterateur possessed a fairly wide spectrum of knowledge. Balancing everything, one may arguably say that the *Dabistan-i-Mazahib* is, indeed, a commendable work.

References:

1. It is believed that as many as sixty-two sects, including Buddhism, arose in the 6th century B.C. Many of these sects were based on regional customs and rituals practiced by different peoples living in northeast India. Of these sects,

Jainism and Buddhism were the most important, and they emerged as the most potent religious reform movements.

2. For details on Buddhism in various countries of Asia see Simone Gaulier, *Buddhism in Afghanistan and Central Asia*, Brill, 1976; B.N. Puri, *Buddhism in Central Asia*, Delhi, 1987; Kenneth K.S. Chen, *Buddhism in China: A Historical Survey*, 1964; Walpola Rahula, *History of Buddhism in Ceylon*, 1969; M. Anesaki, *The history of Japanese Religion*, London, 1931; K.B. Dhaninivat, *A History of Buddhism in Siam*, Bangkok, 1960; C. Bell, *The religion of Tibet*, New York, 1931; Waddell, *Buddhism in Tibet*, 1975; Taranatha, *History of Buddhism in India*, Eng. tr. Lama Chimpa and A. Chattopadhyaya, Shimla, 1970
3. For recent valuable works on Gautama Buddha and his teachings, see J. B. Saint - Hilaire, *The Buddha and His Religion*, New Delhi, 1977; T. W. Rhys Davids, *Buddhism: Its History and Literature*, Delhi, 1997.

The Buddhists maintain that their religion is eternal. It was taught at different cycles by sages called Buddhas (the Enlightened Ones) or Tathāgatas (those who have realized the truth). In the present cycle, called *Mahā-bhadra-kalpa* (the very blessed cycle), four Buddhas are said to have already appeared, viz. Krakucchanda, Kanaka Muni, Kaśyapa and Buddha, while the fifth, viz. Maitreya, is yet to be born - cf. Hardy, *Manual of Buddhism*, 2nd edition, pp.88-91; S. Chandra Vidyabhusana, *A History of Indian Logic*, Delhi, 1978, p.225

4. *Dabistan-i-Mazahib*. Eng. tr. David Shea and Anthony Troyer, London, 1943, vol. II, pp.210-216

Dabistan-i-Mazahib, vol. II, p.210. The author claims to have met some Buddhists, and seemingly wrote about Buddhism on the basis of personal experience.

6. For recent valuable study on the life and the code of discipline of the monks, see R. H. Robinson, W. L. Johnson, and S. A. Wawrytko, *The Buddhist Religion: A Historical Introduction*, U. S. A., 1997, pp. 67 & 74.
7. *Dabistan-i-Mazahib*, vol. II, p.210. However, in another prominent Persian literature, *A'in-i Akbari*, it is stated that the Persians and Arabs referred the Buddhist monks as *Bakhshi*, seemingly meaning *Bhikshus* - see Abul Fazl, *A'in-i Akbari*, Eng. tr. H. Blochmann, New Delhi, 1997, vol. III, p 223.
8. It is interesting to note that the ethics of *ahimsā* is the keynote of Buddhism. It stresses, like Jainism, the ethics of *ahimsā*, non-injury in thought, word or deed - cf. Jadunath Sinha, *A History of Indian Philosophy*, Calcutta, 1952, vol. II , pp. 325, 326, 342
9. *Dabistan-i Mazahib*, vol. II, p. 212. It is noteworthy that the other Persian littérateur of Mughal India, namely Abul Fazl, while writing on the topic under review, also asserts that the Buddhist monks stay away from women. See *A'in-i Akbari*, vol. III, p 223.
10. Interestingly, Buddhism was considered to be a reactionary faith, which stood against the rigidities imposed on the society by *Brahmanism*. And, resultantly, the followers of this faith were anti - *Brāhmaṇa*.
11. *Dabistan-i Mazahib*, vol. II, p.213. However, now-a-days we observe that the *Baniyās* are mostly the followers of Jainism and not Buddhism.
12. For details about women followers of Buddhism, see Swarna de Silva, *The Place of Women in Buddhism* , UK, 1994; L.S. Dewaraja, *The Position of Women in Buddhism*, Kandy, Sri Lanka, 1981.

13. Cf. *The Hibbert Lectures*, 1881, pp.91-92. Buddha explains transmigration by a couple of examples - (i) the flame of a lamp, and (ii) the different modifications of milk. For details, see *Saṃyuttanikāya*, and *Milindapaṇha*, cited in Jadunath Sinha, *Op. Cit.*, vol. II, p 301
14. N.V .Banerjee, *Buddhism and Marxism*, New Delhi, 1978, pp. 28-30.
15. For a detailed information on Buddhist Tantrism, see Sadhu Shantideva (ed.), *Encyclopaedia of Buddhist Tantra* , Vol.s I - V, Delhi, 2001
16. *A'in-i Akbari*, vol. III, p 227.



Theory of Karma and Rebirth in Theravāda

Dr. Abha Singh*

In Sri Lanka the Buddhist Community was segregated in two schools: Abhayagiri School or Dhammarucinikāya and Mahāvīra School. After a long tug-of-war between the two schools, the Mahāvīra School ultimately was triumphed in Ceylon. However, Ceylon was not merely a passive recipient of Buddhism. It contributed to the development of Buddhism through its commentaries. The Buddhist world owes a great debt to Ceylon. Ceylonese Buddhism, distinguished as Theravāda Buddhism, had great influence upon Burma (Myanmar), Cambodia, Siam and Laos, the only other countries where Theravāda Buddhism flourishes today.

Theravāda Buddhism has a vast literature written in Pāli. It is claimed to be more orthodox and faithful to the teachings of Buddha. In the following paper I shall confine myself to the discussion of the theory of *karma* and rebirth which is of utmost importance in Theravāda.

Emergence og Buddha

Buddha emerged in the Indian social scene when two modes of reflections were prevalent: Materialism and Eternalism. In spite of the meditative efficiency of the Upaniṣadic mode of realizing the transcendent experience, Buddha refused to intellectualize about the transcendental experience. On the other hand, he revolted against the materialist's belief in death as the final destiny. Such belief encouraged the materialists to foster a life of pleasure, denouncing all belief in morality and law as, for them, there is no further possibility beyond

* Head, Deptt. of Philosophy, B. S. College, Danapur, Patna

death. Advocating his famous middle path, Buddha admitted the presented universe as it is i. e. from birth to death. Disease, sorrow and death are the indispensable factors of life. Buddha fully understood the complexity of experience from within and without. Any theoretic mode or code of discipline detached from one's concrete experience could not satisfy him.

Starting with the given order of experience, Buddha found the presented universe as transient (*anitya*), non-substantial (*anātma*) and sorrowful (*duhkkha*). The root of suffering, for him, lies in birth and the cause of birth in basic ignorance or undisciplined conditions. Consequently, rebirth is also based on similar ground i.e. ignorance. Hence, ignorance leads to the triadic process of birth, death and rebirth. The bold facing of life made him to refuse that man is merely a historical creature subject to death. Buddha emphasized that man goes through the cycles of death and rebirth till he is free from ignorance. The fundamental cause of all misguided actions leading to sorrow has been ascribed to ignorance and desire. Therefore, one should try to get rid of all desire and false perceptive. As the Buddhist ethics is directed towards the goal of freedom, it has discovered moral virtues and proper attitude which helps one in the realization of the ideal. It has enunciated a disciplined order in terms of conduct (*śīla*), meditation (*samādhi*) and insightful understanding (*prajñā*). The crux of Buddhist ethics is spiritual perfection. Such perfection consists in a harmonious life. There is no possibility of attaining *Nirvāṇa* unless a person has first reached the empirical state of equilibrium and equipoise. The attainment of such state is possible only through the proper enunciation of one's actions (*Karma* or *Kamma*).

Meaning of Karma

The word '*Kamma*' appears in some passages of Pāli *Abhidharmakośa* as the cause of the world. In some other passages both *Kamma* and *Kileśa* (passion) are regarded as the cause. However,

lobha (greed), *dveṣa* (aversion) and *moha* (decusion) have been regarded as the three fold causes of *Kamma*. Vasubandhu says, '*Karma* is will (*cetana*) and voluntary action.'¹

Dr. Rhys Davids in his Pāli dictionary has used the word '*Kamma*' in an inclusive sense. The word denotes both the action as well as acting subject, i. e. both in objective and subjective sense. The objective aspect produces good or bad consequences which affect the subject thereby modifying his nature as good or bad. This aspect of the doer is called his character.

So the word *Kamma* is used indiscriminately to denote (1) the act and the actor (2) performance of the act and the habit of repeating it, (3) acts as causes of other acts and as being caused by some other acts. Thus *kamma* means (1) the deed as expressing the agent's will i. e. qualified deed good or bad (2) the repeated deeds as expressing the agent's habit or his character, (3) the deed as having consequences for the agent as source of good or evil... Again the word *kamma* as objective action refers to action as performed in the past (*kata*), at present and as future now uncommitted but to be committed in the future (*katabba*). *Kamma* as good or bad is used attributively to denote good and bad character of the person. It is also used in the sense of cause and effect as having been performed by the agent and as redounding upon him in its virtuous or vicious effects which he has to reap. It is used also in the sense of general principle as the driving force causing the course of *samsāra* and also as the principle of retribution.²

Kammas are said to be of three kinds, bodily, mental and vocal (*kāyika, mānasika and vācika*). Insistence is laid on the necessity of volition for action.³ The accidental destruction of a human being when aiming at a pumpkin is no murder. Hence, to be effective an action must be prompted by a strong will. All the three kinds of acts produce two fold effects on our mind and body as also outside us. "The first kind of effect is of a structural modification of our cerebro-

spinal system and the body as such. This is known as *viññapti* or informative.⁴ Such effects cause certain changes in the body of the agent thereby making him accountable for the act. Hence, such actions are called informative acts. Besides, there is another kind of effect of one's action of which even the agent is not aware. Such effects are called *avijñapti*. Although, this *avijñapti* is not known to the agent but it leads him to its consequences. "This *avijñapti* seems to be something like the *apūrva* in the Mīmāṃsā thought when it is taken as an intermediary between the action and its consequences. But when this is taken to have a strong influence on a man's character, helping, as it does, a saintly person in his moral progress and weakening a sinner by increasing his bad propensities. This seems to have a very important psychological significance."⁵ Thus, *avijñapti* persists and develops although the agent is not aware of it. This curious doctrine contains in itself the recognition of a real fact; the taking of a religious vow impresses on a man's character a peculiar bent, which is not consciously present but none the less must definitely affect the trend of his actions."⁶

Theory of Karma

However, actions produce fruit (effect) only when prompted by desire (*kamma*), delusion (*moha*) and aversion (*dveṣa*). *Kamma* by itself without craving (*taṇhā*) is incapable of bearing good or bad fruits. So if action is not associated with *rāga*, *dveṣa* or *moha* it is like a burnt seed incapable of producing any fruit.⁷ Here it doesn't seem out of place to make a distinction between acts which are supernatural (*lokottara*) and those which are born of desire. The former category of actions have the way for one's release while the later lead to rebirth and reward. Some deeds that bear reward may be requited in this life and some other grave crimes may inevitably receive punishment in the next life. A cursory glance at *Aṅguttara-nikāya*, (111, 94) makes it clear that the retribution of sin depends upon the status of the sinner. If a good man commits some minor sin, that action is expiated with a slight punishment in this world,

though for the same action a bad man may have to suffer torment in hell. “It is as if a man was to put a lump of salt into a small cup of water, the water would be made salty and undrinkable. But if the same lump of salt were put into the river Ganges, the water of the Ganges would not be perceptibly tainted.”⁸

Nevertheless, Buddhism lays great stress on freedom of will, moral effort and activity. Every individual is the master of his own destiny. One makes oneself pure or impure by one’s own free good or bad volitions and actions. By one self the evil is done, by oneself one suffers, by oneself evil is left undone, and by oneself one is purified. Purity and impurity belong to oneself, no one can purify another. Hence, every individual can work out his own salvation by free moral actions. Buddhism, like Jainism, maintains that salvation does not depend upon the grace of God. It has to be wrought only by self help. As Nāgasena contends, “It is through a difference in their *karma* that men are not all alike, but some long-lived, some short lived, some healthy and some sickly, some handsome and some ugly, some powerful and some weak, some rich and some poor, some of high degree and some of low degree, some wise and some foolish.”⁹ As man is the builder of his own character and destiny the past self is wrought up into the present self. The future self is the projection of the present self. The self is not static but fluid, always a becoming. “Whatever a man does through his body, speech or thought are to be called his own for they follow him when he departs from his life like a shadow that leaves him not.”¹⁰

It is clear now that *karmas* are the connecting link between one life of an individual and another. Though Buddhism does not accept the immortality of the soul it is in favour of the continuity of personality.

Theory of Rebirth

Upaniṣads present a clear-cut enunciation of the theory of rebirth. As Prof. S. N. Dasgupta asserts: “The *Bṛhadāraṇyaka* says

that just as an insect going to the end of a leaf of grass by a new effort collects itself in another so does the soul coming to the end of this life collect itself in another. This life thus presupposes another existence. So far as I remember there has seldom been before or after Buddha any serious attempt to prove or disprove the doctrine of rebirth.”¹¹ It appears that Buddha accepted the Upaniṣadic note, “as a man does so will he be born” without any modification. Hence, the present birth could only take place on account of the works of a previous existence which determined it. Therefore this life comes only as one which had an infinite number of lives before, and which except in the case of a few emancipated ones would have an infinite number of them in the future. Theravāda (early Buddhism) contends that death is the portal to the next existence. But the passage of an individual from one life to another life is not through the migration of the soul, as there is no soul to migrate. It is the character that continues. When a man dies his physical organism which is the basis of his psychical dissolves, and so the physical life comes to an end. Although, there is no permanent identity between two lives yet the new born being is the successor of the acts of the dead man as there is no annihilation or cutting off. A new being is what its act made it. An evil deed results in birth as a being in hell and he may be compelled for long period of rebirth in such state. The birth and sufferings undergone are the fruit of ripening of the sin (*vipākaphala*). But at last the force of birth projection by the sin is lessened and an animal existence or existences follow. The sufferings in the animal existences are again the fruit of ripening as the character of the birth is the fruit similar to the action (*nisyanda phala*) as when the murderer is reborn as a tiger. At last the power of birth projection is exhausted and the way is open for some deed done in the former birth which had merit and which now may project a human birth. But still, the following life shall be coloured by a fruit similar to the ancient sin. Hence the murderer will be crushed to death or the thief poor.¹² For example a thorn which pricks the Buddha’s foot is the result of slaying of a man in some previous birth. However the process is complex since

each individual series extends indefinitely into the past and the future, rebirth cannot be predicted. Anyway, a meritorious person may often secure the kind of rebirth he deserves by intense thought of it before death.¹³ Dr. S. Radhakrishnan elucidates this position in a lucid way:

For when in any existence one arrives at the gate of death, either in the natural course of things or through violence, and when by a concourse of intolerable death-dealing pains, all the members, both great and small, are loosened and wrenched apart in every joint and ligament; and the body like a green palm leaf exposed to the sun dries up by degrees, and the eyesight and the other senses fail, and the power of feeling, and the power of thinking and vitality are making the last stand in the heart then consciousness residing in that last refuge, the heart continues to exist by virtue of *karma*, otherwise called the predispositions. This *karma*, however, still remains something of what it depends on and consists of such former deeds as were weighty, much practiced and are now close at hand; or else this *karma* creates a reflection of itself or of the new modes of life now being entered upon and it is with this as its object that consciousness continues to exist.¹⁴

As the desire and ignorance still remain predominant in an individual's heart one is not able to know the evil attached with the object of inclination due to ignorance consciousness still craves for the object of inclination. Thus, the *karma* that sprang up along with the consciousness impels it towards the object, hence another birth.

Animals, ghosts, men, gods and demons are all subject to rebirth. However, gods and beings of hell are not conceived but the last consciousness of the dying man creates in some fashion for itself the necessary divine or infernal body out of unorganized matter. In the case of men, animals or ghosts there may be delays in rebirth if circumstances are not propitious and in the meantime it may exist as a *Gandharva*. *Gandharva* is an intermediary existence in a short lived form. This *Gandharva* creates at the earliest opportunity, with the aid of the conceptual elements the proper embryo.

Furthermore, the Buddhist basic principle of the explanation of life is that internal predispositions (*bhava*) lead to birth i. e. existence of the body. As, for them, consciousness is the condition of the development of the embryo, the outward manifestation of an internal urge, it leads to the explanation of the origin of the whole material universe. Buddhists are of the view that the world in which the organisms exist has indeed a material cause, but the actual condition is not due to any nature of the matter itself. It is the fruit of mastery (*adhipati phala*) of the acts of beings. This is seen most clearly at the beginning of a cosmic age.¹⁵ The whole material universe is the fruit of mastery of all deeds of the world of living being. The rule is universal and applies even to the divine sphere. There is nothing superior to *karma*. Though Buddha admits the existence of deities like Indra, Varuṇa, Brahma etc. but at the same time emphasizes that even they are involved in the rounds of birth and cannot interfere with the solemn law of moral causation. In fact, Gods have come into being as the reward of noble actions and deep meditations; otherwise they don't have any special power.

Conclusion

In nutshell, Theravāda Buddhism is a religion of self help. Liberation does not depend upon the grace of God. It has to be wrought by one's own moral efforts. It stands for the subtle disciplined condition and opens for mankind the controlled transcendent meditative possibility. The law of *karma* presents the principle of justice in human relations. It insists on individual responsibility and the reality of a future life. The principle that by his own actions the agent is laying the foundation of happiness or misery of another individual that is to come into being by his death as a result of his *karma* makes one more responsible while discharging one's duties. Thus we can safely conclude that Theravādin law of *karma* and rebirth fosters and encourages the general personal development of the people it is a glaring example of justice as it ensures it to one who performs his functions in the best possible way. Hence the twin principle of *karma*

and rebirth protects the basis of justice i. e. the principle of equality and fraternity which makes it modern enough.

References:

1. *Abhidharmakośa*, iv., I, cp. *Aṅguttara-nikāya*, vol. IV, 415, as quoted in J. N. Sinha, *A History of Indian Philosophy*, (Central Book Agency, Calcutta, 1952), vol. II, p. 299.
2. Surama Dasgupta, *Development of Moral Philosophy in India*, 2nd edition, (Munshiram Manoharlal Publishers, New Delhi, 1994), p. 160-61.
3. S. N. Dasgupta, *A History of Indian Philosophy*, (Motilal Banarsidass, New Delhi, 1975), vol. III, p.108.
4. S. Dasgupta, *op. cit.*, p. 158.
5. *Ibid.*, p. 158.
6. A. B. Keith, *Buddhist Philosophy*, (Aman Publishing Company, Delhi, 1993), p. 204.
7. S. Radhakrishnan, *Indian Philosophy*, (George Allen & Unwin Ltd., London, 1962), vol. I, pp. 440-41
8. J. N. Sinha, *op. cit.*, p. 299.
9. *Ibid.*, p. 300.
10. S. N. Dasgupta, *op. cit.*, p. 87.
11. *Ibid.*, p. 87.
12. A. B. Keith, *op. cit.*, p. 206.
13. *Ibid.*, p. 205.
14. S. Radhakrishnan, *op. cit.*, pp. 444-45.
15. A. B. Keith, *op. cit.*, p. 206.



Jainism, Art and Education-an overture

Priti Kumari*

Jainism is one of the most organised living religions of the world. It has its philosophy that envisages and succinctly throws light on its theoretical aspects and practical teachings. On its theoretical arrangement, it places the whole universe under the two everlasting categories : *jīva* and *ajīva*, its pluralistic, realistic and relativistic stand- points, its concept of knowledge in its pristine and pure form: *Kevala-jñāna* and its reality that suffers change and yet endures as the privilege of existence. In its practical teachings, it posits with extreme severity the precious principles of life: *tri-ratna* (three-jewels) of Right Faith, Right Knowledge and Right Conduct. Similarly, five-vows of an ascetic i.e., not to injure, not to utter falsehood, not to steal, to lead celibate life and to renounce the world. For layman, it replaces them by chastity and contentment, the two main keys of successful life of citizenry in this world. All these tend to make Jainism profound, propelling and expressive of profundity to sustain at both levels of laity and asceticism as the Philosophy of Religion and Ethics spreading over vast and varied range of followers and opposites bearing ranked inspiration in disciplines. The disciplinary fields of Art and Education cited as paradigms amply justify such exaltation.

Art

Jainism in its literature prominent among which *Samavāyāṅga-sūtra*,¹ *Jñātādharmakathāṅga-sūtra*,² *Aupapātika-sūtra*,³ *Praśnavyākaraṇa-sūtra*,⁴ *Rājaprasnīya-sūtra*⁵ clearly presents its views on art and artifacts and paves the way for their understanding in their exalted

* Lecturer, B. Ed. Section, Govt. P.G. College, Ranikhet, Almora (Uttaranchal)

form. Art in its totality expresses creative skill of the artist and sensitizes perceivers to the core. It reflects the use of imagination and gives vent to ability and skill of the artist. It affects perceiver's ideas and feelings, incites their understanding and prompts their implicit and explicit experience. And the work of art awakens one's positivity cognitively, affectively and conatively. Its effects being non-discriminatory, unitary and positive, gives glimpse of fresh perspectives and all-inclusive identity. It is thus exciting, coolant and exegetic too. On mundane level, it helps earning, even a lot. On the spiritual level, it catches blissful experiences. In fact, it is natural and neutral. It is men who derive benefits of its pairing down in their search for pleasures in life, in life's choices and decisions, and at times for spiritual elevation and freedom too. Art's visual forms are painting, drawing, and sculpture. Its audio forms include music and musical instruments. Artistic ability can be enhanced through training and practices. For exactness, it requires its creativity and positivity at its root. Art, therefore, is an expression of aesthetic experience, an attainment of blissful vision of meaningful life mirroring knowledge, action and culture. Jainism with its work of art and art of living manifests all these in its sixty four⁶ or even seventy two fields of arts prominent among which are *Vāstukalā*, *Chaitya stūpa* and gardens, *Mūrtikalā*, *Saṅgītakalā* in which prayers are included, *Vādyakalā*, *Nāṭyakalā*, *Yuddhakalā*, *Citrakalā*, *Lekhanakalā* and also *Gaṇītakalā*, *Hastakalā* and *Lepakalā*. One cannot miss the sight of arts presented with a view to educate people in general and its followers in particular in Jainism's religious way of life. These works of art promote personality development and more so aim at building a sound system of education that we can see as glimpse of strong, healthy and dynamic educational system prevailing in glorified ancient Indian culture and civilization of which Jainism is a co-sharer.

Education

Whatever broadens our horizon, deepens our insights, refines our reactions and stimulates our right thoughts and right feelings

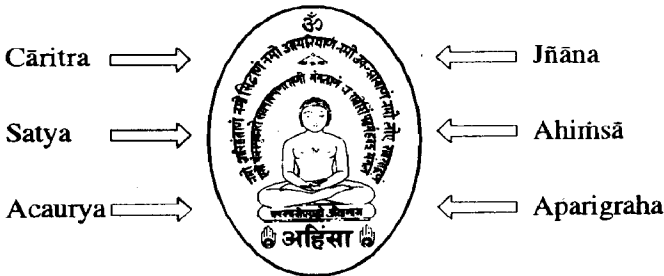
covers the range of education. It does not end at the confinement to instructions imparted in educational institutions nor a mere intellectual development of a person. It is a life-long process, individual as well as social. It is a dynamic process. It provides opportunities for the flowering of human personality, manifestation of the qualities that are inherent in a person. It marks a propulsion from internal to the external and vice versa in the attainment of deep-level traits, a creative orientation ultimately to overcome self-sense and egoism. A man becomes a man because of proper education. Abreacting the beast in man and elevating the best in him are education's end-product. Education is thus a man-making process.

Education is a kind of faith in action, a discipline that combines different disciplines supporting it. The concepts and theories are all behind it. It is knowing and cultivating 'that', its content. It is an enterprise. Knowing 'how', its method or combination of methods is its natural extension. It conveys accepted excellences, the cultivation of which is desirable, appreciable and morally justifiable. It is worth getting. To be aware of it is a natural and linear grain. The knowledge of the educator and the extent of gain to the educated are all included in it. This is why; education is both constitutively and epistemically proactive, prospective, performative and perfective. On the constitutive level, it is existent definiens and exists independently. Whether one knows these traits, exalts them, cultivates them or does not cede them, they do exist in it. Knowing them has inherent propensity. It is propellant and propitious in nature that peps up person/persons for its dissemination. It also proffers to win weal of decline and deceleration of value/values in which it seems losing its weight.

Education displays knowledge and many things more like expression-level quality of culture and learning, the level of quality acquired, developed level of special and general abilities of minds and, refined and promoted mode of thought and feelings through learning and experiences ultimately to put on display the positive

value and creative force as its elemental necessity. It is of an a-priori kind. Its aims, possibilities and methods are all its expressions in practice. The promotion of knowledge and action are its two wings that posit its features. Though all-inclusive, it entails a kind of cognitive development. It is reflective of man's self-making. It is graded and solemn. Its desirability entails value that prevails in creating a balance of good over evil. This balance is good for life and society. The former exalts its basic principle; the latter promotes the principle of utility. The former constitutes need psychology; the latter is the need for self-making of man through education of man by man and his environment. Such position strikes at the happy note that 'knowing-how' (method/methods) and 'knowing-that' (content) concern human activity. Thus, the content of education is constitutively independent but acquisitively expressive. This shows that education is an art. It gives art a living language. Philosophy provides education and art a base, a sublime root. The triune of philosophy, art and education on attainment levels goes for blissful experience to which they contribute a lot. As a Religion and also as a Philosophy of Religion, Jainism emphasises spiritual fulfillment, optimises social awareness and ethical practices that is the end of philosophy, art and education.

Jainism unfolds both sides of education, its principles or theories, its practices, or application, its knowing and its cultivating. These two sides go hand in hand in its *Siddhi Sopāna* that puts *Cāritra*, *Satya* and *Acaurya* at par with *Jñāna*, *Ahimsā* and *Apārigraha* together to form a concord around Mahāvīra. *Siddhi Sopana* prepared by one Jaina follower Rishi Kumar Tantera of Udaipur on the occasion of 88th birth anniversary of Prekṣā Praṇetā Acharya Mahaprajna displaying the sculpture of Tīrthankara Mahāvīra encircled by



shows exuding infinite four-fold perfections out of the confluence of *cāritra* and *Jñāna*, *Satya* and *Ahimsā*, *Açaurya* and *Aparigraha*. Such parallelism goes hand in hand in Jainism in its theory and practice to make a whole philosophy of life and to gear it to the idea that unless man rises completely above action and eschews all actions, no salvation is possible.

A reference to seven *Sikṣāvratas* (three *Guṇāvratas* and four *Śikṣāvratas*)⁷ - *diśāparimāṇa-vrata*, *upabhoga-paribhoga-parimāṇa-vrata*, *anarthadaṇḍa-parimāṇa-vrata*, *sāmāyika-vrata*, *dcśāvakaśika-vrata*, *prośadhopavāsa-vrata* and *atithisaṁvibhāga-vrata* shows that Jainism considers education as virtue pursued with self-control, determination and will. It provides moral-fiber and will-power in the development of human personality. The view on education-system in Jainism places importance on development of social life, character building and on preservation of culture. They are all for integral and individual development of aspects of life rooted in *arts-science matrix*. The ethics in Jainism is rooted in a creative orientation, the aim of which ultimately is to overcome self-sense and egoism, gradual elimination of the beast in man and elevating best in him. The man-making process of education makes Jainism sensitive to truth, love and beauty that arouse value-seeking character in man. Jainism, therefore, paves the way for accepted excellences, cultivation of which is desirable appreciable and morally justifiable and above all, worth getable, All these expression-level qualities of culture and learning, the nucleus of which is acquisition of positive value and creative force in man. These are at the top in education in Jainism.

Art and Education

Education purifies artwork of negative reactions. In turn, art makes a person more creative and perceptive. It is personal, individual, and creates different reactions than expected, but to understand that any reaction is better than no reaction. The programme of philosophy of art and education in its completeness allows person

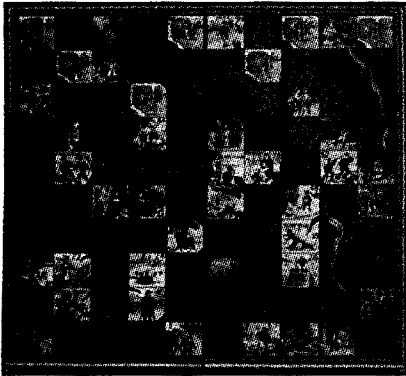
to increase positive attitudes towards self, other, and the environment through creative experiences. Art is an excellent way of expressing emotions. It states views on life yet remain an individual. It mirrors life, a wonderful life. In this sense, it is a thing of beauty a joy for ever. Education provides direction to this way of life that becomes self-expressive and fulfilling. It paves the way for power of effective communication through which one can discriminate between good and evil. It helps in forming and be guided by a philosophy of life. Education and art, and its works push person/persons to imbibe inspirational culture, an effective continuity to progress. Both of them in their niceties make attempts to acquire excellent dispositions, refined attitudes in terms of vigor, courage, mettle or other such virtues to have refined and graceful mind. Both of them aim at presenting individual progress with social harmony to lead a cohesive way of life in learning self-rule or rule of the self for which philosophy in general and Jainism in particular aspire, practise and untiringly take '*tapas*' (penance).

Art, Education and Jainism

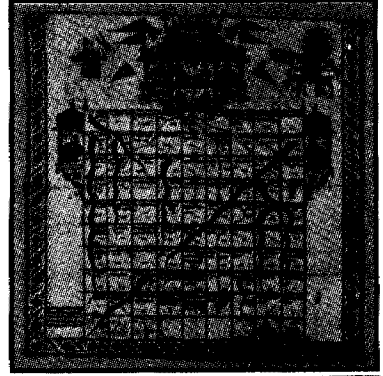
Jainism is a philosophy and the problem of philosophy largely covers knowledge and experience, reality or existence and values. The Philosophy of Education as a branch of philosophy picks up the third i.e., acquisition and promotion of values through learning, training and education. Thus the task of this branch of Philosophy is to educate people on art of living, by allowing questions concerning practice of life shaping and by providing solutions of practical and life-sustaining significances. Education and art concretise them into living the philosophical life or the philosophical art of living. Fulfillment of this task elevates man to a kind of spiritual practice, an ethical/spiritual investigation into the meaningful life of courage and conviction through theory and practice, discourse and life that in complete correspondence affect one another and derive inspiration from and get strengthened from each other not only with words but through images as well. Jainism as a perfect philosophy and religion

that conforms to this *Jivana-darśana (Weltanschauung)*. Its practical views on art and education amply justify it. *Games of Snakes and Ladders (Gyānbāji)* represents both the progress of one's life and also a moral game. In the former, good and bad conduct and their results are shown. In the latter, the play of the virtues and vices were shown to reflect.

These games in vogue in the 19th Century (References Museum no CIRC 324-1972 and Misc. 423-1981 figure placed on page-9) bear testimony to Jainism's practical promotion of art and education,⁸ art of education and education through art in use of keeping or breaking of school rules or cases of modern morality as the reasons for ascending ladders or descending snakes.



*Game, snakes & ladders,
1895. Museum no.
misc.423-1981*



*Game of Snakes & Ladders,
19th century. Museum no.
CIRC.324-1972*

Snakes and Ladders was also a moral game originally devised in this country. The virtues, in the shape of Ladders allowed the players to reach heaven. The Snakes were the vices for which the player were punished by having to move backwards. In 19th century the game was divided in 84 squares but presently it is played with 100 squares.

Education and art are complementary to each other. Their sublime roots formally lie digged into philosophy. The triune of

philosophy, art and education at the attainment level, therefore, is doused in blissful experience. They unfold 'the hidden soul of harmony' (John Milton) and path to liberation contained in *ratna-traya* (Jainism) for attainment of such intuitive awareness and spiritual experience. The *ratna-traya* (three-jewel)- Right views and faith, Right knowledge and Right conduct the paths to freedom represent philosophy, education and art respectively, is hidden deep in the core of Jainism. It cannot be denied that Jainism has been striving for and making efforts sincerely to spiritualize mankind through its outer and inner transformation. For it, man must possess sound body with perfectly purified mind and sensitive heart for others. Such right state of mind and body alone can lead man to perfection, *Kevala-jñāna* the supreme consciousness, the freedom of the head and heart. Such state can only create awareness in man to gain positivity, loving kindness and wisdom that ultimately gives spiritual freedom. Art, Education and Philosophy serve man on the path of spiritual evolution to which Jainism has been contributing constantly and has taken its lavish share in shaping and perfecting mankind.

References:

1. *Samavāyāṅga-sūtra*, Editor- Yuvācārya Madhukar Muni, Pub. Agama Prakashana Samiti, Byawar, 1982, 72/356
2. *Jñātādharmakathāṅga-sūtra*, Editor- Yuvācārya Madhukar Muni, Pub. Agama Prakashana Samiti, Byawar, 1981, 1/99
3. *Aupapātika-sūtra*, Editor- Yuvācārya Madhukar Muni, Pub. Agama Prakashana Samiti, Byawar, 107
4. *Praśnavyākaraṇa-sūtra*, Editor- Yuvācārya Madhukar Muni, Pub. Agama Prakashana Samiti, Byawar, 1983, p. 96
5. *Rājaprasnīya-sūtra*, Editor- Yuvācārya Madhukar Muni, Pub. Agama Prakashana Samiti, Byawar, 1983, p. 207-208
6. *Jambūdvīpaprajñapti*, Editor- Yuvācārya Madhukar Muni, Pub. Agama Prakashana Samiti, Byawar, 2, p.136

7. *Tattvārthasūtra*, Commentator Pt. Sukhlal Sanghvi, Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi, 7/16
8. Student should come up with rules for playing a Jain version of Snakes and Ladders. They should think of a minimum of five actions that would cause the player to ascend a ladder and eight actions that would make them go down a snake. They could then design a game board.

Alternatively, students could design a Snakes and Ladders game using keeping or breaking of school rules or cases of modern morality as the reasons for ascending ladders or descending snakes.



Practice of *Brahmavihāra* in Theravāda Buddhism

Archphurich Nomnian*

Abstract

The concept of *Brahmavihāra* in Theravāda Buddhism can enable human beings to recognize the importance of *Mettā* (loving-kindness), *Karuṇā* (compassion), *Muditā* (gladness), and *Upekkhā* (equanimity), which can transform violent society into a peaceful one. There are, however, issues that each individual has to take into account when applying these virtues in one's practice. This paper offers basic understanding that enables us to reflect our day-to-day actions that can potentially create positive change in ourselves and society in which we live.

Introduction

This paper aims to discuss the concept of *Brahmavihāra* in Theravāda Buddhism, which is closely linked to the fundamental concept and practice of Buddhism. *Brahmavihāra* consists of four main sublime virtues: *Mettā*, *Karuṇā*, *Muditā*, and *Upekkhā*. These four virtues allow us to understand the principle practice of Theravāda Buddhism in terms of loving-kindness, compassion, gladness, and equanimity. These are relevant in many ways for our present day situations regarding war on terrorism, social and political unrest in different countries, as well as, the global climate change due to human's exploitation of natural resources. Although violence of wars may never disappear from human history, we need to continue to make efforts to practice *Brahmavihāra* by transforming violence, greed,

*Lecturer, College of Religious Studies, Mahidol University, Thailand and Ph. D. Scholar, Deptt. of Philosophy and Religion, BHU, Varanasi.

anger, desire into peace by actively involving ourselves in dialogues, social and political actions. Though such movements may still be in a small scale, Buddhists definitely need to contribute more to peace movement in the present world, as the teachings of this great religion has a lot to offer in terms of *Brahmavihāra* and peace.

Concepts of Brahmavihāra

Brahmavihāra consists of two parts: *Brh̥ma* and *Vihāra*, which means sublime and ways of living, respectively.¹ Therefore, the term *Brahmavihāra* means ‘sublime way to living’. The sublime state developed in a person can be extended to all members of the society, which will be symbolized by complete dawn of harmony and peace. As a result, it will not have hatred, enmity, jealousy, and inequality among its members. Each person should cultivate *Brahmavihāra* in oneself so as to be extended to others. This alone will result in the complete harmony and peace on earth. *Brahmavihāra* has the four sublime virtues, namely, *Mettā*, *Karuṇā*, *Muditā*, and *Upekkhā*, which will result in the perfect social order. These four sublime virtues are also termed as *Appamannā*, which means ‘illimitable’ because they find no barrier or limit and should be extended towards all beings without exception. They embrace all living beings including animals¹.

The sublime states of *Brahmavihāra* are to be practiced in such way that they are so saturated in one’s way of life. This means the Divine Principles manifest in all the activities of a person such as standing, sitting, sleeping etc.² Thus, the need for the practice of *Brahmavihāra* arises from the emergence of social order with the reign of complete harmony and universal peace in this ill-disciplined world of today. The modus operandi of *Brahmavihāra* will be as follow:

“*Mettā* embraces all beings, *Karuṇā* embraces sufferers, *Muditā* embraces the prosperous, and *Upekkhā* embraces the good and the bad, the loved and the unloved, the pleasant and unpleasant”³.

Lord Buddha out of immanent compassion has thus shown a divine way of living by practicing *Cattāro Brahmavihāras*. After

having established oneself in the abode of divine living, one gradually extends the same thoughts to one's fellow human beings and later to all other living beings. The following sections will address the four main sublime virtues of *Brahmavihāra*.

Mettā

The term *Mettā* is derived from the Pāli term *Mejjati* which means the state of love. The equivalent Sanskrit term for *Mettā* is *Maitrī* meaning friendliness. There is no equivalent term *Mettā* in English and hence it can be taken to refer friendliness, good-will, loving-kindness and universal love. It can be taken as the first sublime state of mind. It is the wish for the welfare and happiness of all beings. It is free from all carnal desires, attachment, and self-centered ideas. It is ultimate love that does not have any boundaries. Piyadassi Thera⁴ views *Mettā* as a very pure sublime state of human mind; like a quicksilver it cannot attach itself to anything. It is a clam, non-assertive super-solvent among virtues. The main characteristics of *Mettā* are:

1. to promote the social welfare,
2. to remove hatred from mind
3. to regard the whole world as one's mother and all as fellow-beings.

Since anger and hatred are from the obstacle of *Mettā*, these defects are to be dropped as the following statement:

“Friends, when a man hates, is a prey to hate and his mind obsessed by hate, he kills living beings”⁵.

Mettā or loving kindness has the main purpose of subjugating ill-will. “Loving kindness has the purpose of warding off ill-will”⁶ *Mettā* softens heart of men toward each other in society. If one has the heart full of *Mettā*, one will do, speak and think only in the way that leads to good wishes for all. *Mettā* alone can bring people to a

unity. Thus, to develop *Mettā* (loving kindness) is necessary. The purpose of *Mettā* is also to get rid of all kinds of evils in mind like narrow mindedness and selfishness. By practicing *Mettā* in oneself, one gradually extends toward all beings⁷.

‘*Karuṇā*’

The Pāli term for *Karuṇā* means pity or compassion in the *Aṅguttara-nikāya*. It is defined as *Ahita-dukkha-apanāya-kāmatā*, the desire to remove the bane and sorrow from one’s fellow men⁸. If *karuṇā* is taken to be the equivalent of the English word compassion, then it can refer to “Sympathy for the sufferings and misfortunes of the others, causing a desire to give help or show mercy⁹”.

Piyadassi Thera defines *Karuṇā* as “the quality rouses tender feeling in the good man at the sight of other’s suffering¹⁰”. It is clear that *Karuṇā* does not mean helping others so as to get something back. It is the kind of pure mind where in nothing selfishness or ulterior motive inside.

The main characteristics of *Karuṇā* are as follows:

1. to help a person in suffering by ignoring one’s own suffering.
2. it takes the forms of non-violence in removing the suffering.

According to Nārada Mahāthera¹¹, “the chief characteristic of compassion is the wish to remove the sufferings of others”. Compassion also augments the eradication of suffering. “Its functions reside in not bearing others suffering. It is manifested as non-cruelty. Its proximate cause is to see helplessness in those overwhelmed by suffering. It succeeds when it makes cruelty subside and it fails when it produces sorrow¹²”.

The purpose of *Karuṇā* is to wipe out the *vihimsā*. Compassion eradicates the cruelty on violence. *Karuṇā* has the purpose of warding off cruelty and aversion (boredom). Compassion compels one to do anything only for the welfare of others. As a matter of fact, the

compassionate person lives not for himself but for others. He tries to find the chance or an opportunity to work for others and expects nothing in return. He never wants even the fame or praising from whom he helps. He spreads his compassion in the entire direction from where he dwells¹³.

Muditā

The term *Muditā* is derived from Pāli root *Mōdanti*, which is associated itself with the gladness or *Modanā* meaning the mere act of being glad; therefore, *Muditā* can be defined as gladness. In other words, the kind of feeling that a person gets when he is happy with the progress and prosperity of others is called *Muditā* or gladness¹⁴. *Muditā* is the state of happiness at the sight of the welfare of others without jealousy. Gladness or sympathetic joy is more concerned with oneself than with others because it will destroy the jealousy within oneself. Negatively, it helps not to hinder the progress and welfare of others. *Muditā*, though initially difficult to attain, can be practiced by habit. It can also be cultivated by all kinds of people. Thus is shown the possibility of practicing of *Muditā*:

“And how does a Bhikkhu dwell pervading one direction with his heart endued with gladness? Just as he would be glad on seeing a dear and beloved person, so he pervades all beings with gladness”¹⁵.

That is the very reason why individuals and groups have to practice the sympathetic joy. They can sublimate themselves and be internally happy within themselves. One can make up one’s mind happy with the prosperity of others than he can make the society happy. *Muditā* influences all the prosperous beings and it is the congratulatory attitude of a person. It tends to eliminate any dislike towards a successful person.

The chief characteristic of *Muditā* as pointed out by Nārada Mahāthera, “is happy acquiescence in others’ prosperity and successes (Anumodanā). *Muditā* embraces all prosperous beings. It eliminates dislike (Arati) and is congratulatory attitude of a person”¹⁶. *Muditā*

is not only sympathetic or appreciating joy but also the quality of heart that can make one happy at the prosperity of others as his own.

“Gladness is characterized as gladdening (produced by others’ successes). Its function resides in being unenvious. It is manifested as the elimination of aversion (boredom), its proximate cause is seeing being successes. It succeeds when it makes aversion (boredom) subside, and it fail in when it produces merriment”¹⁷ .

In fact, to express *Muditā* to others is to get peace or happiness to oneself. Because a person who has the heart full of aversion with others’ successes, he cannot get peace in his life. There are many people who are trembled with the prosperity of others. They could not bear their feeling; envy them because they cannot see that they are good and famous in society. Therefore, the purpose of *Muditā* is to demolish the aversion or boredom from mind. That is possible only by practicing *Mudita* repeatedly again, so that mind will be attuned to *Muditā*.

Upekkhā

The term *Upekkha* means looking at things impartially. *Upekkhā* views an object with a balanced mind. *Upekkhā* is, therefore, a condition which arises inside of human’s feelings. It is “to view impartially, that is, with neither attachment nor aversion”¹⁸ . By *Upekkhā*, we can understand not merely indifference but perfect equanimity or the well-balanced mind. This state is settled and does not get itself disturbed whatever may be the circumstances. The significance of this fourth sublime state is well expounded thus:

“And how does ‘a Bhikkhu dwell pervading one direction with his heart endued with equanimity? Just as he would feel equanimity on seeing on a person who unbeloved , so the pervades all with equanimity”¹⁹ .

Upekkhā is a neutral condition or a balanced state of mind. It discards clinging and aversion, it is the impartial attitude looking at all beings equally.

In other words, “Equanimity is characterized as promoting the aspect of neutrality towards beings. Its function is to see equality in beings. It is manifested as the quieting of resentment and approval. Its proximate cause is seeing ownership (kamma). Thus, Beings are owners of their deeds”²⁰.

Upekkhā has four-fold purpose, which are:

1. removal of hatred
2. removal of cruelty
3. removal of aversion
4. removal of passion

By these four-fold removals from the mind, the mind becomes well balance and impartial at any circumstance. To put it in the words of Lord Buddha:

“*Cetovimutti*; deriverance of mind, friends, is the elimination of hatred, friends,

Cetovimutti; deriverance of mind is elimination of cruelty, friends, *Cetovimutti*; deriverance of mind, is elimination of *Arati* (aversion), friends, *Cetovimutti*; deliverance of mind, is elimination of passion”²¹.

Above all, the *Upekkhā* also helps one to free oneself from greed (*Rāga*).

The Inter-relationships between the four divine abiding principles

The four abiding principles are interlinked in such a way that the practice of one implies the practice of others. The simultaneous practice of the four divine abiding principles in addition to *Pañca-śīlā*²², *Pañca Kalyāṇadhamma* and the *Sucarita* will make one eligible to attain Buddhahood, since the possession of these virtues form the necessary conditions for Buddhahood but they are not sufficient. The one who has attained these virtues may be called a Buddha to be (*Bodhisatta*).

Mettā stands for loving kindness towards all beings and becomes a precondition for *Karuṇā* which is not merely love, but love for the sake of the welfare of others. In fact, it is the precondition to the state of happiness that one attains at the success of others which is called *Muditā*. These three principles will lead one to attain *Upekkhā*, the cultivation of which will result in development of knowledge (Jñāna). On the whole:

“The general purpose of these four divine abiding is the bliss of inside and an excellent (form of future) existence”²³.

Conclusion

Understanding *Brahmavihāra* or divine abiding in Theravāda Buddhism leads one to explore the fundamental principle of Buddhism such as wisdom and compassion. It means that *Brahmavihāra* is imbedded in the core teachings and practices of Buddhism. Learning the Lord Buddha’s teachings and practicing the Lord Buddha’s path naturally guides us to act and think based upon *Brahmavihāra*. Though violence, greed, anger, and desire may never disappear from human history, we need to continue to make efforts to practice loving-kindness, compassion, gladness, and equanimity, transforming violence, greed, anger, and desire into peace.

Reference :

1. Nārada Mahāthera, *The Buddha and His Teachings*, p.614
2. “*Tiṭṭhan cāramnisinno vā sayāno vā yāvatassa viggatamidhho etamsatim adhiṭṭheyya brammametam viharam idhamahu*” *Khuddhakanikāya (Syāmaratṭhassā Tepiṭakam)*, XXV, p.14
3. Nārada Thera, *The way to Nibbāna*, p.23-24
4. Piyadassi Thera, *The Buddha Ancient Path*, p.114
5. *Visuddhimagga*, p.321
6. *Ibid.*, p.345
7. *Mettāsahagatena cetasā ekam disam pharivā viharti tathā dutiyam tathā tatiyam tathā*

*catuttham iti uddhamadho tiriyaṃ sabbadhi
sabbatthatāya sabbāvantāni lokam mettā sahaḡatena
cetasā vipulena mahaggaṡatena appamaṇena averena
abyapaḡḡhena pharivā viharati”*

Majjhimanikāya (Syāmaratḡhassa Tepitakam), XIII, p.49

8. *Aḡguttara-nikāya-I, p.183*
9. Randolph Quirk, *Dictionary of Contemporary English*, p.219
10. Piyadassi Thera, *The Buddha’s Ancient Path*, p.120
11. Nāraḡa Mahāthera, *The Buddha and His Teachings*, p.536
12. *Visuddhimagga*, p.344
13. “*karuṇā sahaḡatena cetasā ekam disaṃ pharivā viharati*”,
Majjhimanikāya (Syāmaratḡhassa Tepitakam), XIII, p.49
14. “*Muditā sahaḡatena cetasā ekam disaṃ pharivā viharati*”,
Majjhimanikāya (Syāmaratḡhassa Tepitakam), XIII, p.49
15. *Vibhāga*, p.274
16. Nāraḡa Mahāthera, *Op. Cit.*, p.536
17. *Visuddhimagga*, p.344
18. Nāraḡa Mahāthera, *Op. Cit.*, p.536
19. *Visuddhimagga*, p.343
20. *Ibid.*, p.344
21. *Dighanikāya III*, p.248
22. Five precepts are:
 - (i) *Pānātipāta veramaṇi sikkhāpadam samādiyāmi* (I under-
take the rule of training to refrain from killing living
beings),
 - (ii) *Adinnādānā veramaṇi sikkhāpadam samādiyāmi* (I under-
take the rule of training to refrain from accepting which
is not given),
 - (iii) *Kāmesu micchācārā veramaṇi sikkhāpadam samādiyāmi*
(I under-take the rule of training to refrain from wrong
conduct in sexual relations),

- (iv) *Musāvādā veramanī sikkhāpadam samādiyāmi* (I under-take the rule of training to refrain from false speech)
- (v) *Surāmeraya majjapamā datthānā veramanī sikkhāpadam samādiyāmi* (I under-take the rule of training to refrain from intoxicants such as liquors, etc., causing carelessness)

Khuddakapāoḥa, ed. By Helmer Smith, London: PTS, 1978, p1; *Dīgha-nikāya* II.p.180

23. *Visuddhimagga*, p.318



Consciousness in Sartrean and Jaina Philosophy

Samani Chaitya Prajñā*

Jaina and continental approaches to philosophy are not so different that fruitful crossovers are impossible. Especially when we look into early philosophy of Jean Paul Sartre, we see that his metaphysical explanations and that of Jainas betray remarkable similarities, despite some areas of differences. Our exclusive concern here is to study the Sartre's metaphysical view of consciousness as set out in his epoch making work *Being and nothingness*, vis-a-vis the Jaina views of the same in order to identify the areas of overlaps and differences between them.

Initially when we look into early philosophy of Sartre, we find him speaking of two different kinds of beings in the world: being for itself (Pour-soi), or consciousness, and being in itself (En-soi) or non-conscious reminder.¹ This view when compared with the Jaina view of metaphysics seems to be amply similar, as the Jains also express their views in the same terms as they put it,

*jīvā ceva ajīvā ya; esa loye vihāiyā*²

The world is made of conscious and non-conscious beings. *Jīva*—that which is characterized by consciousness is *jīva* and *ajīva* characterized by non-consciousness. Like Sartre's being in itself (être En-soi), which is unconscious Jaina define *Ajīvā* as 'acetano *ajīva*'.

The being, which is devoid of consciousness, is *ajīvā*.³

Sartre means by 'being' in phrases like "Being for itself, the word can be used to mean entity. He is interested in what is involved

* Jain Vishva Bharati University, Ladnun (Raj.)

from the phenomenological point of view in existing consciously, rather than in what a conscious entity is e.g. Brain, biological organism, immaterial substance, or whatever is.

This in other words means that Sartre's interest lies in discovering the meaning of what it is like to be a conscious existence and hence he has to depend on description of the conscious acts and also the objects which appears to consciousness. He is not interested in the scientific question concerning what from such things are made of.⁴

To characterize being-for-itself, then is to describe what it is like to exist as a conscious agent. But Jaina theory of reality is concerned with both, conscious activity as well as of what consciousness is made of. Of course, consciousness is defined as terms of cognitive activity in Jainism, but at the same time Jainism also defines consciousness to be an aggregate possessed of innumerable space points containing major characteristics, such as infinite knowledge, infinite power and bliss. Sartre seeks to describe and analyze from a phenomenological viewpoint, the relationship between his different modes of being since he holds that they are strongly independent. Being for-itself is founded on its relationship to being in-itself. Being in-itself in turn has at least some of the for-itself's experienced characteristics in virtue of this relationship. In all these, the focus remains primarily on the nature of consciousness, and what is to be understood by conscious phenomena. It will thus be helpful now to move on to some general remarks about Sartre's view of consciousness. He lays great emphasis on five distinctive characteristics about it in almost everything written by him in his early writings.

In order to dive into the overlapping areas it will be helpful now to move on to some general remarks about Sartre's view of consciousness and then compare it with Jaina viewpoint.

These characteristics are:

1. All conscious acts have intentionality.

2. Consciousness is empty.
3. Consciousness is characterized by, and is the source of nothingness.
4. Consciousness is subject of extreme freedom.
5. There are two fundamentally different modes of consciousness reflective and pre-reflective.⁵

I

Intentionality

Sartre holds that all consciousness is of something e.g. one sees a dog, believes that it is raining, and imagines one's best friend and so on. The idea is that in all such conscious episodes there is something, a fact or a material thing or whatever, of which one is conscious and which thus figures as the intentional object of the consciousness, Consciousness is always the positing of some object or other transcendent lost. As in "Being and nothingness," Sartre rightly says "All conscious as Husserl has shown, is consciousness of something. This means that there is no consciousness, which is not positing of transcendent object or if you prefer, that consciousness has no 'content'. All consciousness is positional that it transcends itself in order to reach an object and exhausts itself in this same positing."

According to Jaina philosophy, there are two states of consciousness viz. passionate (*sakaṣāya*) and dispassionate (*akaṣāya or vītarāga cetanā*). In the passionate state of consciousness, it is no doubt always intentional but when there is no passion, no greed, etc., consciousness has no intention, the knowledge of whole world for it is as clear as crystal, and there remains no intention to acquire any new knowledge. Therefore, there is no need to posit. Consciousness in this stage is non-intentional. Of course, until this stage is reached, the self or consciousness is positional. Thus here consciousness is devoid of any object, but it does not mean that consciousness is empty as discussed below.

II

Consciousness is empty

Although Sartre resists that all conscious episodes posit intentional objects, he also maintains that consciousness it-self is empty, there are no contents in it so that nothingness is literally in consciousness. He does not mean by this that phrase like 'having in mind' any container-contained relation. The word 'in' is not to be taken literally (contrast having x in one's pocket). He denounced this way of thinking that contents or images are literally in consciousness as being an instance of the illusion immanence. "A table is not in consciousness.. A table is in space, besides the window."⁶ From this it is quite clear that object cannot be in consciousness, but he says something more than this. According to Sartre there is nothing whatever in consciousness not even resemblances or representations of its intentional objects. This is most striking in his treatment of visualizing or mentally imaging.

Jaina philosophy also maintains that consciousness is a not container of object but at the same time it is neither static nor empty, because of *svabhāva paryāya* (intrinsic modes) and *ananta catuṣṭaya* (four-fold infinite inherent qualities) when I say 'I', it means infinite knowledge, infinite intuition, infinite power and infinite bliss, which is an inherent attribute of the transcendental self as it is said "*jñānadarśanātmika cetanā*"⁷ that is to say that according to Jaina philosophy consciousness must have at least its basic inherent qualities and that if it does not have it, there would be no difference between consciousness and an object. More over what Sartre says is also self contradictory, as he maintains it to be superfluous it dilutes and scatters itself and never forget itself and again he says it is static and empty.⁸ In the light of Jain metaphysics consciousness always has its attributes of cognition and is therefore never empty or static.

III

Nothingness

In addition to his concern with being, Sartre is also much concerned with non-being or nothingness. According to Sartre,

reflection on the relations between Being In-itself and Being For-itself encounters nothingness at every turn. To confront X as an intentional object is to be conscious of not being X. The world appears full of nothingness such as unrealized but realizable possibilities. According to Sartre's developed account of being For Itself, consciousness is separated from its past and future by nothingness. More, to be so separated from past and future is to be free, according to Sartre. Freedom is the source of all-nothingness.⁹

In *Being and Nothingness*, Sartre explains of nothingness as though it were quite short of real thing, though (we must always remember) by 'real' Sartre usually means phenomenological real, if it figures in experience. It is the characteristic, which consists in the way things appears to be a conscious act. Consciousness is separated from its intentional object by nothingness which means consciousness consists in its forever going beyond itself. The structure at the basis of intentionality and selfness is negation, which is the internal relation of the For-itself to the thing. That it is not a thing. A thing is what it is, but consciousness is what it is not, The For-itself constitutes itself outside in terms of the thing as the negation of that thing, thus the first step in relation with *being- in- itself* is negation.¹⁰

The real according to Jaina philosophy is a variable constant. It is being and non-being. The theory of *Syādvāda* implies this possibility of both positive and negative predications as is explained in the text *Āpta Mīmāṃsā* of Samantabhadra (4th century) that

*“sadeva sarvaṃ ko necchet svarūpādicatuṣṭayāt /
asadeva viparyāsānna cenna vyavatiṣṭhate //*

Who does not hold everything to exist from the four aspects, (*sva-dravya, sva-kṣetra, sva-kāla, sva bhāva*)? On the contrary, who does not hold non-existence (with reference to alien *rūpa, kṣetra, kāla, bhāva*)? If this be not accepted, nothing can exist.¹¹

Sartre finds no enduring “I think” or no transcendence ego. No synthesizing activity beyond the intentional objects. There is only

a thin transparency, a distance, a nothing. Now when I say “I”, it seems hollow to me. I can’t manage to feel myself very well.... And just what is Antoine Roquetin? An abstraction. A pale suddenly pales and fades out. Lucid, static, forlorn. Consciousness is walled-up it perpetuates itself. No body lives there any more. Now nothing left but anonymous walls anonymous consciousness. This is what there is : walls and in between the anonymous walls, a transparency, alive and impersonal consciousness, superfluous, which dilutes scatters itself on the objects but never forgets itself.¹²

Man is nothing, is a famous quote of Sartre, by which he means that man is not a thing, never complete, always in the mode of possibilities, as it is said that “what consciousness is what it is not and consciousness is not what it is.” This is how consciousness is proved to be nothing. Sartre also gives the various criteria on the basis of which, he proves consciousness is not what it is and consciousness is what it is not. These criteria are body, temporality; freedom etc. According to Sartre man’s existence is absurd because of his contingency finds no external justification. His projects are absurd because they are directed toward an unattainable goal (the “desire to become God” or to be simultaneously the free for itself and the absolute in itself, which is complete and neither active nor passive). Here Jainism provides the way to come out of this absurdity and illuminates the way of trinity-right knowledge, right attitude and right conduct through which one can be God. This insists that consciousness desire to become God is not absurd. Consciousness in its pure state is itself God, which is neither active nor passive. Thus there exists a possibility in consciousness of Jainism, where all possibilities come to an end, where as for Sartrean for-itself no such possibility is possible. For Sartre, only possible characteristic of For-itself is to be in mode of possibilities the possibilities, which has no end.

Thus by nothingness he proves that consciousness ec-sists (to be outside oneself). Consciousness exists in the sense that it is

incomplete—it for ever goes beyond—it is in the realm of possibilities. The variable constant theory of Jaina philosophy on the other hand depicts that consciousness is both what it is and what it is not and the ethical principles gives end to the ever-lasting chain of possibilities.

IV

Two modes of consciousness

As already mentioned, Sartre considers all conscious episodes to posit an intentional object. Now among such intentional objects are acts of consciousness themselves can be. I might think about the Eiffel Tower and then think about this act itself “That’s the first time for a week that I have recalled that day in Paris when. . . The first act of consciousness Act 1, which has tower as intentional object is the object is also of a further act of consciousness Act 2. This mode of self awareness he calls reflective conscious or thematic self awareness.¹³

However Sartre makes an important point here that this is not the only form of self awareness we enjoy. He claims that in addition to this reflective and explicit Self consciousness which is just special case of an act of consciousness positing an intentional object, we are always at least implicitly self conscious in a special way, when we are not reflecting. Even when I was engaged in act which posited an object i.e. (Act 1) before becoming explicitly aware of itself in another act of consciousness called Act 2 Sartre would insist that Act I or the non-reflective act is implicitly aware of itself or else it will lead to infinite regress in that in order to be aware of Act 2 will require act 3 and so on. This implicit self-awareness is called non-thetic awareness or non-positional awareness. When I am aware of the object, I am also aware, though implicitly and non-thetically of my awareness of the object.¹⁴

All are therefore lucid and clear in consciousness, though the object with its characteristic of opacity is before consciousness still

consciousness is purely and simply conscious of being consciousness of that object. This is the law of existence he says. In the words of W.T. Jones consciousness of objects and consciousness are not different kinds of consciousness. Consciousness is a unique type of existence; every consciousness of an object is also a consciousness of self.¹⁵

A lot of examples have been given regarding the consciousness of self and that of the object awareness at the same time. Such as, while reading novel a careful introspection reveals that no “I” was actually present in my consciousness while I was reading the book. Nevertheless I know that at that time, I was reading. Sartre proves this point with the help of memory as he says: “If for example, I want to remember a certain landscape perceived yesterday from the train, it is possible for me to bring back the memory of that landscape as such. But I can also recollect that I was seeing that landscape In other words I can always perform any recollection whatsoever in the personal mode I appears.”¹⁶

This view of Sartre of our consciousness of our selves as also corresponding the objects is in consonance with the Jaina view of consciousness of objects and the self in relation there to. As *Hemacandra* (12th century) puts it in his *Anyayogavyavachhedikā* as:

“*Svārthāvabodhakśama eva bodhaḥ prakāśate nārthakathānyātha tu.*”¹⁷

“Knowledge (consciousness) that revealing self is capable revealing others. If it is not self revealing, it cannot illuminate any object”, that is to say consciousness is consciousness of object, only when it is the conscious of the self. Therefore, Sartre’s view of consciousness of the object and that of the self goes hand in hand with Jaina view self and other illumination. He further explains in *Pramāṇa-mīmāṃsā* that:

In the introspection ‘I know the jar’ and the like, the fact of cognition is as much revealed as content as the elements of subject

and object. It is not possible that the cognition of object can happen to a subject, who does not intuit the act of cognition. It cannot be supposed that the cognition of such an act effected by second cognition, as it will lead to *regressus ad infinitum*. If the cognition of act is be made dependent upon the cognition of object, it will rise to fallacy of logical see-saw (inter dependence). Thus the conclusion is inescapable that as cognition is invariably felt as self - regarding, it must be admitted that it is cognizant of its own self as well.

If it is argued that if cognition is the object of cognition like jar it would become non-cognition (i.e. It would cease to be cognition) Hemacandra says you cannot argue like that 'since a cognition is felt as cognition just as self'. Nor is there, any logical absurdity in the fact that cognition is also cognizable, since it is a cognition with reference to the object and cognizable with reference to its own self (that is to say cognition cognizes its own self just as it does know the object). There is no incompatibility in the situation just as there is none in same person his father and son. Nor can a compatibility be alleged in the action of the self upon itself, since incompatibility cannot occur in a thing attested to be true by direct experience.¹⁸ The usual example given in the Jaina texts in reference to the self and other revealing nature of cognition is an analogy of lamp .

Just as a lamp illuminates itself and others so also act of consciousness or cognition reveals itself and others. In latter works too this characteristic of consciousness has been stressed in the following verse of Yaśovijaya as

“(tatra) jñānam tāvadātmanah svaparāvabhāsakah asādhāraṇa guṇah.”¹⁹

“The unique characteristic of soul (consciousness) is to illuminate self and other.”

Thus it is to say that not only soul i.e. consciousness and its attribute knowledge, an inalienable characteristic of consciousness, is also self and other revealing in nature similar to that of Sartre’s reflective and pre-reflective states of consciousness.

V

Freedom

In this context of all these features of consciousness and particularly its characteristic of negation, Sartre considers us to be far freer than what we can ordinarily suppose: We choose ourselves; we choose what sort of world we shall inhabit. We choose our values. At times Sartre talks like a libertarian proclaiming opposition to universal determinism i.e. the view that all of our views, that all of our actions chosen are caused ultimately by events over which we have no control. But here Jainism does not advocate total freedom. But Acharya Mahaprajna says that of course *karma* have effect on our activities and determine the way of life we lead but still man is free to change the constitution of *karma* too.

From the point of view of an utilitarian like Mill, it is consequences themselves that matter, not whether they have come about as a result of someone's action. From Sartre's point of view (and in this respect he is like Kant) consequences, whether momentous or trivial are inconsequential. What matters is whether we have acted freely, for only in actions defined as the free adoption of projects are we truly human beings. It is only when I make a world that I have being in the mode of the being called being-for-itself. Otherwise I have being in the mode of being called the in-itself for then I shall be behaving in accordance with given world instead of annihilating that given world in order to become self.

According to W.T. Jones "The trouble is that Sartre account of the for-itself commits him to holding that freedom is an all-or-none affair"²⁰ but according to Jainism and others it seems a matter of degree. Apart from these characteristics, in an article called "*La transcendance de l'ego- Esquisse dans description phénoménologique.*" Sartre analyzes in detail certain fundamental positions which though basic in the later work are there horribly sketched in or even presupposed. Most important is Sartre's rejection

of the privacy of Cartesian cogito. He objects to Descartes formulas “I think therefore I am”. The consciousness which says “I am” is not actually the consciousness which thinks instead we are dealing with the secondary activity. So is the Jaina view of consciousness, according to which it is characterized by knowledge, intuition, bliss and power. Thinking is nothing but just an act of knowledge or cognition. It cannot be a characteristic consciousness rather it is just one of the activities of consciousness.

The way in which he says that a tree is a tree and an inkpot is an inkpot but what about the ways in which a communist is a communist. Consider Brunet for instance, it is true that Brunet chose to be a communist. He did not grow up as a communist nor did he graft into it. Thus there is every possibility of change. A man who adopts desertion as his project is only too likely to slip from his freedom into playing the role of deserter. Similarly the man whose project is to become a soldier, or a man whose project is his own existential freedom, is likely to slip from freedom. Doubtless some projects lend them selves more easily than others to slippage into ‘bad faith’. But no project by its very nature as project is immune to slippage.

This view is quite true of Jainism where Mahāvīra shows two kinds of ways of man’s action; *anusṛota*, in which the whole world moves blindly following the other as bad faith in Sartrean terms leading nowhere, but the one who walks on the other way i.e. *pratisṛota*— a way opposite to the generally taken , gains what he wants to achieve. (Good faith) as said, in *Daśavaikālika-*

*anusoyapaṭṭhiebhujāṇammi paḍiso ya laddhalakkheṇam/
paḍiso yameva appā dayavvo houkāmeṇam//*

“Many people slip into the ordinary common way of life, but who moves in opposite direction fulfills the aim. A self that wants “be” something should move away from ordinary way of life.”²¹ Thus, in authenticity of Heidegger, bad faith of Sartre is equivalent to that of Mahāvīra’s *anusoya* state of being.

Freedom in Jainism can be explained by Acharya Mahaprajna as “One is free to choose the type of *Karma* he binds but not free in experiencing fruition or effect of them.”²² One is free to sow any kind of seeds not totally free in getting fruit of it as he wishes. It will be determined by what he has chosen. The world that we create when we act may be as small as this evening dinner or it may be as distant as the flight to moon. That is our action may have only trivial it may have momentous consequences.

The doctrine of *Karma* offers a rational and satisfying explanation to the apparently inexplicable phenomena of birth and death, happiness and misery, of inequalities in mental and physical attainments of the living beings in their empirical or mundane existence. Human being’s present life, which includes his physical features, place and family, success and failures affluence and poverty, happiness and sorrow, is the direct result of what he has done in one’s past lives. *Karma* is natural principle of cause and effect-“As you sow so you reap” is the inexorable law of nature, which is again dependent and regulated by the self.

Thus it can be concluded that:

1. Sartre’s intentionality of consciousness is limited only to impure state of Jaina consciousness. There remains no intentionality in perfect state of consciousness.

2. Similarly the idea of emptiness of consciousness is not possible in Jainism. Consciousness is always possessed of its basic attributes such knowledge, intuition, power and bliss, which are inalienable characteristics of the consciousness.

3. Regarding freedom of consciousness, “All or none” concept of Sartre is not acceptable to Jainism as conscious can only be totally free in purest form but until then it is partially free as it is always in the clutches Karmic matter but of course consciousness is free to break these clutches of or make changes in the karmic constitution through its own actions and efforts.

4. Jainism fully agrees with Sartre positional and non-positional consciousness, as it maintains consciousness / cognition is self and other revealing entity.

5. Jaina philosophers accept nothingness through the theory of non-absolutism, which accepts being and non-being as simultaneously true of all real. It does exist taking present state of being into consideration, and it exists considering future state of being.

According to Sartre man's existence is absurd because of his contingency finds no external justification. His projects are absurd because they are directed toward an unattainable goal (the "desire to become God" or to be simultaneously the free for itself and the absolute in itself, which is complete and neither active nor passive). Here Jainism provides the way to come out of this absurdity and illuminates the way of trinity-right knowledge, right attitude and right conduct through which one can be God. This insists that consciousness desire to become God is not absurd. Consciousness in its pure state is itself God, which is neither active nor passive. Thus there exists a possibility in consciousness of Jainism, where all possibilities come to an end, where as for Sartrean For-itself no such possibility is possible. For Sartre, only possible characteristic of For-itself is to be in mode of possibilities the possibilities, which has no end.

Reference :

1. *Being and Nothingness of Sartre*, tr. H. Barnes, Methuen, London, 1958, p. 222.
2. *Uttarājḡhayāna*, XXXVI, 2. ed. by Acharya Mahāprajña, Jain Vishva Bharati, Ladnun, IIIrd edn., (Ist edn. 1967, IInd edn. 1993), 2003.
3. *Jain Siddhānta Dīpikā* of Acharya Tulsī, 3.79, trans. By Satkari Mookerji in the name of Illuminator of Jaina Tenets, Jaina Vishva Bharati, Ladnun, 1985

4. Jean Paul Sartre, *Being in the world*, Ch. 1, P. 12
5. Jean Paul Sartre quoted from *Using Sartre, An Analytical introduction to Early Sartrean Themes*, Gregory Mc Culloch, Routledge, p.5.
6. Jean Paul Sartre, *Being and Nothingness*, XXVII.
7. *Jaina Siddhānta Dīpikā* of Acharya Tulsi, 2.3.
8. W.T. Jones, *History of Western Philosophy*, The twentieth century to Wittgenstein and Sartre, Vol. V, ed. II, Harcourt Brace Jovanovich, Publishers, San Diego, 1980, p. 338.
9. Gregory Mc Culloch, *Using Sartre, An Analytical introduction to Early Sartrean Themes*, P.33
10. *Being and nothingness of Sartre*, p. 123.
11. *Āpta-mīmāṃsā* of Samantabhadra, ed. and Trans by Saratchandra Ghoshal, Bharatiya Jnanpith , New Delhi, 2002, 1/ 15, P. 74.
12. W.T. Jones, *A History of Western Philosophy*, The twentieth century to Wittgenstein and Sartre, Vol. 5th, P. 338.
13. *Being and Nothingness*.
14. *The transcendence of Ego* of Sartre, translated by F. Williams and R. Kirk Particle, Farrar Straus Giroux, New York, 1957. P. 44-45.
15. W.T. Jones, *History of Western Philosophy*, Vol. V, P. 344.
16. *The transcendence of Ego*, translated by F. Williams and R. Kirkpatride, P. 43-44.
17. *Anyayogavyavacchedikā* of Hemacandra quoted from *Syādvādmañjarī*, of Malliseṇa, ed. by Jagadisha Chandra Shrimad Rajchandra Ashram, Agas, 1992, P. 103.
18. *Pramāṇamīmāṃsā* of Hemacandra, ed. By Nagin J. Shah, in the name of *Hemacandra's Pramāṇamīmāṃsā : A critique of organ of knowledge* , Gujrat Vidyapith , Ahemedabad, 2002, P. 57-8.

19. *Jñāna-bindu-prakaraṇa* of Upādhyāya Yaśovijayji, Singhi Jaina Granthmala, Ahmedabad, P. 1.
20. W.T. Jones, *A History of Indian Philosophy*, The Twentieth Century to Wittgenstein and Sartre, P. 360.
21. *Dasaveāliyam*, ed. by Muni Nathmal, Jaina Vishva Bharati, Ladnun, IIInd edn., 1974, p. 521.
22. *Viśāvaśyakabhāṣya* as quoted in *Jaina Darśana : Manana Aura Mīmāṃsā* of Muni Nathmal ed. by Muni Dulahraj, Adarsh Sahitya Samgha Prakashana, Churu, Rajasthan, 1973, p. 295.



Women Working Class as Reflected in Buddhist Literature : An Analytical View

Dr. Anita Singh*

The objective of writing of this paper is to restore the economic position of early women workers and their contribution to the early economies. The ancient Brahmanical texts were upholding an ideal model of 'womanhood' which only carries out her religious and domestic duties as a daughter, wife and a widow. It was presumed that because of lack of education and training, early marriage, *pardā* system women stayed away from economic activities. This could not have been the general feature of the early society as these restrictions were imposed on the upper caste women of northern Gangetic plains. There was still a large section of women labour force actively engaged in various economic activities which has not got due recognition in 21st century history writing.

Progressive Buddhism had addressed this issue in early India and on an analytical study of Buddhist literature we discover that women were engaged in different economic activities. Buddhism offered a more honorable carrier to women as a result of it large number of them became nuns and some became famous preachers¹. Pāli text furnishes enough information about economic freedom of women and her independent means of livelihood. Pāli literature focuses on the commerce oriented urban milieu which provides scope for it; but in Dharmashastric literature focus is on agriculture dominated rural milieu, in which land figured as a chief guiding factor controlling all socio-economic developments.² Buddhism provides a space to early Indian women to come out of the burden of pestle and mortar in times of distress or if they are genuinely drawn

* *Asst. Teacher, C. H.S. Boys School, B.H.U., Varanasi.*

towards spirituality. On one occasion Ānanda sought an explanation from Lord Buddha as to why women did not sit in court or conduct in business³. *Jātakas* refer to day to day life of people and supply valuable material for reconstructing the history of women working class. They indicate that women kept their own paddy fields, gathered and parched the seeds or rice and grew cotton and used to spin fine threads and to manufacture their own cloths⁴. Free peasant called *vaiśyas*, *sūdra*, slaved artisans and laborers and their female members formed the main basis of Indian formation in the age of Buddha. In fact, the poorer classes had no alternative but to allow their female member to cooperate with men in the cultivation of soil, in reaping the harvest and in other process of production.⁵ The condition of lower strata of society, which comprised mainly petty traders, artisans and wages earners belonging to *vaiśyas* and *sūdra* castes, is found to be better projected in Pāli literature and other text such as the *Arthaśāstra*.⁶ The Pāli texts furnish much less evidence for pre-puberty marriage.⁷ Women were able to move freely in society and were also known to earn their livelihood independently by weaving, dyeing, basket making and selling flowers. Large number of women pursued higher learning or renounced the world in favour of monastic life. Even those who became courtesans are described as holding a respectable position in society.⁸ I.B. Horner observes, “Even secular women in the Buddhist times enjoyed liberty to honorable extents. Besides looking after the household, women had the option to share their husbands calling and undertake any productive labour.”⁹ The patterning of kinship and family structure and the status of women have close relationship with the ownership of the means of production. Only an insignificant part of women labour belonging to upper caste came to withdraw from public production due to patriarchal kinship structure. The general women labour class of rural-urban society was engaged in all spheres of economy which can be broadly classified as women peasants, women skilled workers, women service class and courtesans.

Agriculture being the primary sector of any economy, women could not have afford to stay away from agricultural labour e.g. a certain women was the keeper of a paddy-field and she gathered and parched the head of the rice, doing the work herself.¹⁰ Another is described as watching the cotton field,¹¹ where she used sometimes to spine fine thread from the clean cotton in order to while away the time.

Women workers also carried out various skilled jobs. In the age of Buddha, women role in weaving occupation was very significant; Pāli texts throw considerable light on the women weavers. Under special circumstances such as domestic distress women from higher *varṇas* adopted the profession of weaving and spinning to earn their livelihood. We come across ladies assuring their dying husbands that they need not worry about the financial future of their families,¹² for they could earn the necessary income by spinning and weaving cotton and woolen yarns and piece goods.¹³ In the *Vinaya-pīṭaka*,¹⁴ weaving is regarded as low type of work (*hīnasippanī*). It seems that women worker on a large scale were engaged in the textile industry probably belonging to the lower orders. Specialization must have created new classes of textile workers such as *parakara pesakārī*, ornamental workers and workers in rugs and furs who specialized in their distinct crafts.¹⁵ Women were occupied with carding cotton as is evident by the expression '*ithinam-kappasa-pothana-dhanuka*'.¹⁶ A cloth spun by a *Therī* is mentioned; it was either prepared by sewing rags together or woven.¹⁷

Along with the women skilled worker, there was a large section of women service classes: Many of them earned the reputation of being great teachers, preachers and social workers e.g. Dhammadina, who was regarded as the leading preachers (*dharmakathika*) was praised by Buddha himself for her teaching.¹⁸ Pupils of the women scholar and teacher Ānandmedhaya were called '*Andamedha*'.¹⁹ Some women used to take up the profession of being nurse, though probably only indigent women took the profession; the nurse seems

to have enjoyed the respect as well as affection of the family she served. Nurses remain with the girl they have brought up and accompany her new home.²⁰ We get frequent references of women bodyguards and spies who worked for the state. The *Dīghanikāya*²¹ narrates a woman working as bodyguard to the king. It is said that king Ajātsatru went to see Buddha accompanied by five hundred ladies riding on elephants. Buddhaghosa²² explained that the king Ajātsatru thought "there is no fear for a man when he is accompanied by women and can go safely". A passage from *Dīghanikāya*²³ enjoins that employees should treat their workers (*dāsa-dāsī*) *kammakāra* (*kammakāra/kammakārī* etc.) decently. They should not give task beyond their strength. On the other hand servant should be satisfied with their wages, work satisfactorily and maintain the reputation of their master. At the time of *Jātakas* women workers made significant contribution to the social life. They performed the duties as *paricārikā* (attendant)²⁴, *sāhāyikā*, *dhātis* (wet nurses)²⁵ etc connected with the domestic and allied work. Apart from female attendants, female servants are most frequently found mention e.g. in the Gaṇapāṭha, namely Pralepika Vilopika, Anulopika, Manipali and Dvarapali etc. are referred to. Another function carried out by women workers is that of the retinue. In the *Dīghanikāya*²⁶ we find that retinue of prince is constituted exclusively of women. It is said that Mahāprajāpati Gotamī accompanied by five hundred female attendants went to Buddha to join the order.²⁷ In the house of rich these female attendants looked after everything, spread the bed brought water for the bath, and looked after the mistress if she was ill, prepared perfumes and paste and made garlands.²⁸ The *Jātakas* contain innumerable instances, which clearly prove that the institution formed a feature of ancient Indian society. The female slaves used to do various activities as fetching water; pounding rice etc.²⁹ Females slaves were often a part of the dowry of wealthy young women.³⁰ In addition to other duties a slave woman husked paddy,³¹ pounded rice³² and went to market.³³ Specific terms were used for female slaves based on their nature of work as *kumbhadāsīs*, *bihikottika dāsīs*,³⁴ and the work

done by these women slaves is the designated by the word 'dāsi-bhoga'³⁵ which was opposed to 'sūnsi-bhoga' e.g. the work accomplished in dancing and music (naccagitavadita).³⁶ In the age of Buddha, a section of women workers adopted the profession of singing and dancing to earn the livelihood. We learn that the monk Rathapāla had abandoned two principal wives and many 'nayakathis'. A spirited description of a woman acrobat occurs in the *Dhammapada* commentary.³⁷ Thus women professional workers constituted largely of domestic-slaves, nautch girls and women musician.³⁸

Prostitution was also an established industry in the urban life of the age of Buddha drawing a large section of women who depended on it for their livelihood. Capitals like Vaishali, Rajgriha had chief courtesan, they had their own troupes of singers and dancers and were extravagant in spending money. 'Āmrpālī' and Vaiśālī was an epitome of such class. Wealthy courtesans enjoined honorable titles such as 'Janpada Kalyāṇī' or 'Nagarśobhini- a lady of the land'.³⁹ The *Sāmājātaka* mentions Sāmā, a courtesan of Kāśī who has a retinue of 500 *gaṇika dāsīs*.⁴⁰ Prostitution industry also provided livelihood to those who indirectly dependent on the prostitution industry like garland makers, dress makers troupe of singers and dancers etc. Life of these women workers dependent on the labour they worked out as peasants, skilled workers, and courtesans.

There is an impending need to recognize the labour of these women who were self dependent and their share of contribution to the society. What is required is the change in the perception as these women were not getting regular monetary income or may not be regular workers but we need to understand that the ancient economies were not of that nature as that of today, women of Indian society are to be looked as they were, any comparison with the present society would be out of place.

References :

1. R.C.Majumdar, *The age of imperial unity*, BVBS, 2nd, 1990,pg.565

2. Suvira Jaiswal, *Women in early India ; problem and prospective*, PIHC,1981, Pg56
3. AN,II.P.87
4. *Tha Maha Ummagga Jātaka*, VOL. VI no. 546(346).
5. A.K.Tyagi, *Women workers in the Jātakas*,PIHC,45TH Session,1984,pg123
6. Arthaśāstra ,III.20.16
7. Indra, *Status of women in Ancient India*, Lahore,1955,pg192-93
8. Vijaynath, *Women as property and their right to inherit property up to Gupta period*, IHR,1993-94,Pg.8
9. I.B. Horner, *Women under Primitive Buddhism*, London,1930, pg.83
10. *Dhammapada* Commentary on verse 118
11. *Jātaka* 546
12. *Aṅguttaranikāya*,III.293
13. A.K.Tyagi, *Ibid*, pg.65
14. *Vinayapīṭaka* VI.6
15. Haripada Chakraborti,' *Textile Industry in India* '(300 B.C-300 A.D) JIH,Vol.1973,pg.76
16. *Bhīmasena Jātaka*,Vol.I.NO.80(356)
17. *Therīgāthā*.11
18. *Vinayamahāvagga*,VIII,1.3-4
19. *Paramattadīpanī* (commentary on *Therīgāthā*)Pg.15-20
20. K.C.Jain, *Buddha aura Jain Āgamo men Nārī Jīvana*, Sohanlal Jaina Dharma Pracharak Samiti, Varanasi, 1967,pg.144
21. *Dīghanikāya* (*Bhāgavat* 1,4)
22. Sum.Vil, 1.147 c.f A.K.Tyagi.*Ibid*,pg.64

23. *Dīghanikāya*, III.191
24. *Jātaka*, VI.262
25. *Ibid*, II.337
26. *Dīghanikāya*, II.9
27. *Vinayapiṭaka*, II, 253
28. *Ibid*, I, 27
29. *Jātaka* 413
30. *Nimijātaka*, no.541
31. *Dhammapada* commentry.321
32. *Jātaka*, no.45
33. *Dhammapada* commentary, 2008
34. *Majjhimanikāya*, I.167-68
35. *Vinayapiṭaka*, III, 135
36. *Majjhimanikāya*.82
37. *Dhammapāda* commentary. on verse 348
38. I. B. Horner, *Ibid*, pg.87
39. *Majjhimanikāya*, 321-5, *Samyuttanikāya*, 47-20.23
40. *Jātaka*, III, 59-63



Life Story of Ṛṣabhadeva

Rudrani Mukerjee*

Jainas believe that their religion is eternal. Archaeology takes Jainism back to the Indus Valley civilization, i.e. between 2500 BC¹ and 1750 BC. The Draviḍas should have been Jaina by faith² because all the *tīrthaṅkaras* flourished in the northern regions up to the time when the region was still under the cultural confluence of the Draviḍas. Apart from it, most of male human figures found in the Indus Valley are presented standing, with the hands hanging along the body, which is shown, in the nude. They should be representing the *tīrthaṅkaras* in the *Kāyotsarga* posture. The figures presented in the sitting pose, seem to be representing the *tīrthaṅkaras* in *padma*-pose. Vedic scholars regard Ṛṣabhadeva as Lord Śiva but in any of the two cases they should not be taken to represent Śiva because they do not have three eyes, etc, which are the essential characteristics of Śiva³. A torso of a standing nude figure, along with one more, was unearthed at Lohanipur near Patna in Bihar. Assigned to 320-185 BC, it is very much identical to the terracotta torso from the Indus Valley.⁴ Scholars claim that it is the oldest Jaina image found in India. The nude torso of Harappa seems to represent an image of a *Jina* probably of Ṛṣabhadeva⁵. "There is authentic evidence to prove that it was the Phoenicians who spread the worship of Rishabha in Central Asia, Egypt and Greece. In foreign countries, Rishabha was called in different names like Reshef, Apollo, Tesheb, Ball and bull-god of Mediterranean people. Reshef has been identified as Rishabha, the son of Nabhi and Marudevi and Nabhi been identified with chaldean god Nabu and Maru with Murri or Muru. Rishabhadeva of the

* *Research Scholar, Indian Institute of Psychometry, 117, B. T. Road, Evergreen Plaza, Kolkata*

Armenians was undoubtedly Rishabha, the First Tirthankara of the Jains. A city in Seriya is known as Reshafa. A bronze image of Reshef (Rishabha) of the 12th century BC was discovered at Alasia near Enkomi in Cyprus. An ancient Greek image of Apollo resembled Tirthankara Rishabha''⁶. Thus it is not that Ṛṣabhadeva has been worshipped only in India but has been considered as a prominent deity in other countries also.

According to some of the ancient scriptures, Jainism had been preached in Magadha (Bihar) by Ṛṣabhadeva at the end of Stone Age and the beginning of agricultural age. In hoary past Magadha was separated from rest of India by Ganga Sagara. The ancient history of Nepal bears this out⁷. It is to be noted that the name of Ṛṣabhadeva is found in *Rgveda*, which dates back 1500 B.C. The famous *mantra* from *Rgveda*⁸ reads as-

*catvāri śrīṅgā trayo asya pādā dve śīrṣe sapta hastāso asya /
tridhā baddho vṛṣabho rouravīti maho devo martyān ā viveśa //*

This can be interpreted thus: Ṛṣabhadeva has four horns- of *ananta-darśana*, *ananta-jñāna*, *ananta-sukha*, and *ananta-vīrya*. Right vision, Right knowledge, and Right conduct are his three legs. He has seven hands called as *saptabhaṅgī*. Action, speech and mind being enchained a living becomes *saṁsārī* and again after complete cessation of *karmas* by penance, a soul becomes emancipated or *paramātmā*⁹.

In *Atharvaveda*¹⁰, however, there is a reference to a great *vṛātya* who is said to be Ṛṣabhadeva. Ṛṣabhadeva's father was a man of very high position and his name was Nābhi. Ṛṣabhadeva's mother was Maru Devi. Ṛṣabhadeva's grandparents were Marudeva and Śrīkāntā¹¹. *Yaśasvatī* was the senior queen of Ṛṣabhadeva¹². He had hundred sons from *Yaśasvatī*. She also gave birth to a daughter called Brāhmī¹³. From his other wife Sunandā, he had one son and one daughter named Bāhubali and Sundarī respectively.¹⁴ From Marudevī one son Bharata was born. *Viṣṇupurāṇa*¹⁵ informs Nābhi

as his father although it accepts Maru Devī as mother and Bharata as his son. In *Manusmṛti*, it has been said that Rṣabhadeva was the founder of three rules “*nītitrayakartā yo yugādou prathamō Jinaḥ*”¹⁶. In *Śivapurāṇa*¹⁷, he has been accepted as *Avatāra* or incarnation of god by Hindus. *Bhāgavata Purāṇa*¹⁸ describes in detail the incarnation of Rṣabhadeva on the basis of whose preachings the Jaina religion was founded.

In fact it is extremely difficult to assess his exact date of birth. But based on different literary sources an agreeable date can be established. On the basis of different sources he could be placed before 5000 years back. The present life story of Rṣabhadeva is based on *Triśaṣṭiśālākā-puruṣacarita*¹⁹ where the life of sixty-three torchbearers (Śālākāpuruṣas) has been given by Hemacandra (late 1088-1172 AD). Rṣabhadeva was the first among twenty four *Tirthankaras*. He is considered as the founder of Jainism. The scholars who accept Vardhamāna Mahāvīra (599 BC to 527 BC) as the founder of Jainism, some how believe that Jainism is born against the Brahmanism.

The concept of rebirth is accepted by Jains, Bauddhas and Hindus. It is believed that Rṣabhadeva was born twelve times before he was born as a child of Maru Devī and Nābhi Rai²⁰. In his previous births, Rṣabhadeva was never born as a Brahmin. Śvetāmbara tradition calls him Rṣabhadeva while Digambaras call him Ādinātha or Yugādīnātha. He is also called as Vṛsabha or Usava. The mundane life of Rṣabhadeva is equally eventful and an admixture of natural and supernatural episodes likes his previous births. Although it is a fact that the persons having high flown spiritual potency have some miraculous incidents in their lives. This we see in lives of Jesus Christ, Moses, Lord Buddha, and Sri Ramakrishna Paramahansa of recent era. So there is nothing new in the case of Rṣabhadeva. According to Jaina concept of time when three years seven months and fifteen days were left to third *Ārā*, Rṣabhadeva was conceived by Marudevi. No sign of pregnancy was visible in his body but her

beauty increased day by day. At the very fourteenth night of waxing moon of the month of *Āṣāḍha*, Marudevi had fourteen significant dreams²¹. Among them the first dream was bull or *Vṛṣava*. When he was born the moon was in conjunction with *Uttarāṣāḍhā*. The Lord was born with a fragrance in his body and a mark of bull (*vṛṣava*) in his thigh. Therefore, he was named as Rṣabhadeva. Since a bull was seen first by his mother in her dream, the delighted parents named him Rṣabha²². Many distinguished persons came to see Lord and blessed him. After that they went away and observed the ceremony of *Aṣṭāhnika-parva* in *Nandīśvara Dvīpa*. Rṣabhadeva had many auspicious marks in his body. He was very healthy and divinely beautiful child with four *Atiśayas*. In his childhood he was called as Purudeva. Those supernatural personas, which even person of high spiritual capability with *siddhis* could not attain, were inborn to him. *Ādipurāṇa* says that three types of knowledge- *Mati* (sensuous cognition), *Śruta* (scriptural knowledge) and *Avadhi* (clairvoyance) were in born to him²³. He was a lover of nature and liked to play with birds like Cuckoo, Swan and Peacock. He never afraid of playing with an elephants, a horse and a bull. He was talented enough and tried to equate the sounds of his bird and animal playmates with the conventional seven notes of Indian music. The time when a baby sucks his thumb being over, Rṣabhadeva acquired second stage. He lived on fruits brought by gods from Uttarkuru and special type of drinks instead of taking boiled rice like *Arhata*.

At his youth he was married with Sumaṅgalā and Sunandā, the beautiful twin ladies who had lost their parents. Some *yugalīkas* approached Nābhi for her security. Simple and kindhearted Nābhi agreed to accept them as daughter-in-law²⁴ and finally Rṣabhadeva was married with Sumaṅgalā and Sunandā. Rṣabhadeva enjoyed pleasures with his wives for a long time. When a little less than six Pūrvas had passed after the wedding Sumaṅgalā, like Marudevā, saw fourteen great dreams. The Mistress related the dreams to the Master who said unhesitatingly, "Your son will be Cakrabhṛta".

Sumaṅgalā bore children Bharata and Brāhmī. Lady Sunandā gave birth to Bāhubalī and Sundarī. In course of time forty-nine pairs of twin-sons were born to Sumaṅgalā.²⁵

The span of *Bhogabhūmi* had by this time completely disappeared and with that efficacy of the *Kalpavṛkṣa* went down. Human population started to increase and the society became disorganized and incapable of self-sustenance. Some experienced, wise and senior *yugalikas* reported the graveness of situation to Ṛṣabhadeva. Then according to his father's will Ṛṣabhadeva became the king²⁶. He was almost the father of the concept of kingship. He gave protection to his subject (*prajā*) as a father. He appointed enterprising ministers to make the people follow the repression of the evil and to protect the righteous. He appointed eleven home guards to prevent theft. He took some measurements to save his kingdom from wars. Those were as follows: Elephantine armaments, stables were full of well-bred horses, nice wooden chariots with skilled get up; the army chief appointed by him became a pillar of the new empire. Cows, bulls, buffaloes, mules, camels, were well tamed. In fact Ṛṣabhadeva was a good organizer.

He created a civilization during his monarchy even among people who did not know the use of fire. He was a versatile genius and self-taught in innumerable subjects. Ṛṣabhadeva was the first to teach the people pottery. The occupation and craft taught by him was fighting, letters, cultivation, trades, professions (such as carpentry, goldsmith's work etc. and arts such as dancing, singing etc.²⁷ After that he taught masonry painting. People learnt from him how to earn their livelihood. People learnt the profession of barbers, grass cutters, woodcutters, and peasant and treads man. He introduced four policies like *Sāma*, *Dāma*, *Daṇḍa* and *Bheda*. It became a custom. We may remember that in Sanskrit the number is sixty-four "*Catuṣṣaṣṭi-kalā*". Ṛṣabhadeva gave lessons to Bāhubalī how to train elephants and horses. More over he taught him how to judge the character of males and females by their marks. He taught *Brāhmī* eight kinds of

manuscripts. Then he taught *Sundarī* mathematics, measurements weight, length and the art of stringing beads. He taught Bharata all seventy-two arts²⁸. Rṣabhadeva's empire was spread up to uncivilized areas also. He was a creator of a new era. From his time method of legal battle in front of king, *kulaguru* and chief of staff had been started. Worship of elephant, medical parishes, science of wars, knowledge of economics and political science were introduced from Rṣabhadeva's time. More over punishment or imprisonment, beating, capital punishment, and mortgage were also introduced. People learnt how to make an assembly by election. Battle, analysis by questioning started from that time. Though these are not beyond criticism and often lead to violence yet Rṣabhadeva introduced those practices as rules of living a social life. He introduced the customary rights of household life. He was the first to give a shape to the society where it was not present. Scholars who comparatively were of recent age had created *śāstras* according to Lord shown path. Rṣabhadeva divided people into four classes viz *Ugras*, *Bhogas*, *Rajanyas* and *Kṣtaras*²⁹. The *Ugras* were the guardsmen appointed to give cruel punishments; the *Bhogas* were the ministers etc., of the Lord, like the Trāyastriṅśas of Hari. The *Rājanyas* were the companions of the Lord, and all the other people were *Kṣatriyas* by name. Some scholars hold the view that those who fought came to be known as *Kṣatriyas*. Lord engaged men in agriculture. Sugarcane, paddy, and other crops started growing. He made a demarcation of land as for the use of pasture. He made the village and town prosperous. Under his direction and his superior intellect and gigantic personality a dark area become fully enlightened. He was long-lived and had a creative genius. He was extraordinarily strong both physically and mentally.

Let us turn our eyes to the other part of Rṣabhadeva's life story. With the advent of spring festival where he spent few hours Rṣabhadeva was carried away to detachment to mundane world. While the citizens were playing there, he thought 'Is there such sport

anywhere else?’ then by clairvoyant knowledge the master knew the very highest pleasure of heaven and that pleasure of Anuttara heaven formerly enjoyed by himself. Then he thought that in this well of *saṁsāra*, *jīvas* from their *karma* perform actions that are nothing more than coming and going like a jar on a water wheel. His mind was woven with threads of continuity of disgust with *saṁsāra*, then he called Lokāntika-gods who have nine divisions- Sārasvatas, Ādityas, Vahnīs, Aruṇas and Garditoyas, Tuṣitas, etc.³⁰ They requested him to establish a *Dharmatīrtha*. The Lord left Nandanavana with a desire to be a wandering mendicant. He called his chief of administration, his sons. He expressed his desire to hand over the charge of the empire to Bharata. Though Bharata refused to be the king at first but ultimately agreed due to his obedience to his father. The Lord gave Bāhubalī and other sons the rest of the empire according to their capacity. Here we can remember that according to certain scholars Sanskrit name of Babylonia is *Bahubalaniya* as some say the name *Bhārata-varṣa* has come from Bharata. However Rṣabhadeva started disposing of his worldly materials. The ceremony went on from dawn to dusk. This reminds us Harṣavardhana’s donation ceremony in every fifth year of his kingdom. Rṣabhadeva put on heavenly beautiful dresses and ornaments. Everybody was eager to see him. He got into a palanquin. Bharata, Bāhubalī, & Marudevī, Sumaṅgalā, Sunandā, Brāhmī, Sundarī and other ladies and gentlemen followed him. It was a tearful see-off. He reached the garden Siddhārtha and giving up all ornaments put on a sacred and ordinary cloth (Devadūṣya)³¹. Then on the dark eighth of Caitra, the Moon being in conjunction with the constellation Uttarāṣāḍhā, and the moment was the end of the day³². Rigorous austerity started from the garden of Siddhārtha. He plucked four handfuls of hairs as if intending to give the remains of the sacrifice to the four quarters. After fasting for three days and making the *namaskṛti* to the *Siddhas*, in the presence of gods, *asuras* and men, saying “I renounce all censurable activity, the son of Nābhi adopted good conduct which is like a chariot on the road to *Mokṣa*. Four thousand wealthy people

took initiation following the Lord's example. Their leaders were Kaccha and Mahākaccha³³. Rṣabhadeva avoided violence to *Sthāvara* and *Trasa* types of beings. He took the vow of speaking the truth as well as sweet words. He determined to give up things, which had not been given to him. The things possessed by wars or law of inheritance or by earning livelihood were forsaken by him. He became personified *Brahāmacarya* without any break. He accepted five kinds of *Mahāvratas*. He became immersed in his inner self. He checked the natural tendencies and stopped speaking. Some godly prosperous persons observed conjointly the ceremony of *Aṣṭāhanika* in *Nandīśvara Dvīpa* to show respect to Lord's penance. *Kaccha* and *Mohākaccha* along with the four thousand followers of Rṣabhadeva failed to follow vigorous austerity as Lord used to do. Not going back to family life they started roaming about as a class of ascetics with heaps of matted hairs. They lived on *kanda*, *mūla* and fruits in a forest near Ganges. So indirectly Lord became the founder of that class of ascetics. Lord Rṣabhadeva abstaining from speech under a vow was roaming about all places belonging Aryans and non-Aryans. After one year's austerity passed, he thought in his mind that he might fail like Kaccha and Mahākaccha, which would set a bad example. Thinking thus he went to Gajpur (Hastinapur) for alms. Everybody offered him princely gifts, which he could not accept. Lastly Śreyāṃsa Kumāra his great grandson offered him fresh and flawless sugarcane juice. Some divine incidents occurred. It was due to the flawlessness of offering food or drink to a *Tīrthanāra*. That happened in the third day of waxing moon of Vaiṣākha (middle of April to middle of May). The result of this never wears away. So that day was called *Akṣayatrīyā* or *Akṣayatīja* and it became a custom. This started from Rṣabhadeva's acceptance of gift from the prince Śreyāṃsa Kumāra. Rṣabhadeva being a *Chadmastha Tīrthanāra* could not stay there more than one night. Śreyāṃsa Kumāra, saying "No one is to cross the place of the Blessed One's fast breaking, put their a jeweled platform. Bowed with a load of devotion, Śreyāṃsa started to worship the place like the Lord's feet actually present³⁴.

Rṣabhadeva entered Bāhubalī's kingdom near Takṣaśilā. He stayed there in a garden in meditation whole night but at the approach of dawn he went away. Unfortunately Bāhubalī could not meet him. Bāhubalī put over the Lord's footstep a jeweled Dharmacakra like complete disc of the sun. He observed the ceremony of *Aṣṭāhnikā*, thus Takṣaśilā and Hastinapur became a sacred place.

Lord Rṣabhadeva keeping himself separate from everybody without any hesitation and weakness traveled all the Aryan and non-Aryan countries. He accepted different types of *Abhigraha* to continue observing the vow of silence. He wandered for a thousand years as easily a day in the countries of Yavanas, Domba and Mlecchas making them well-disposed to others just from the sight of him, untouched, unmoved by disturbances, enduring trials or *upasargas* and *Parīśahas*.

Rṣabhadeva gradually proceeded further. He went to the township Purimatāla, the chief suburb of the city of Ayodhya. He entered the garden Śakaṭamukha³⁵. After fasting four days, standing in meditation under a banyan tree he attained seventh *guṇasthāna* called *apramatta*. After that he attained another *guṇasthāna* named *Apūrvakaraṇa*. Then he attained the first stage of *Śukladhyāna*. After that he attained ninth *guṇasthāna* named *Anivṛtti*. Then he attained respective stages like *Sūkṣmasamparāya*, *Kṣīṇnakasāya*, *Upaśāntakaṣāya*. He attained the second stage of *Śukladhyāna*. Gradually his *karmas* like five *Jñānāvaranīya*, four *Darśanāvaranīya* and five *Antarāya* being destroyed, he attained twelfth *guṇasthāna* named *Kṣīṇamoha*. Thus after one thousand year (999 years 11 months and 2 days) passed on the eleventh half of Phālguna, the moon being in conjunction with Uttarāśādhā, at dawn the Rṣabhadeva's omniscience became manifest³⁶. By the power of *Kevala-jñāna* he was capable of knowing about three worlds. In the morning Lord went to enter *samavasaraṇa*. It was a huge congregation. Surrounded by the crores of four classes of gods, he set out at daybreak to reach the *samavasaraṇa*. Rṣabhadeva's hypnotic thought current made kings

sitting side by side in a friendly mood who had long term enmity. That happened in the case of animals also who had in born enmity. The Lord started speaking in a language, which everybody could understand. He started speaking in a very loud but audibly pleasant voice. He had quality of thirty-five *Atiśayas*. His sermon was as follows: This world is full of miseries living being suffers here as if there are in fire. Human birth is achieved after innumerable lesser births. It is like a water mill in an ocean. In comparison to it human birth is a rare gem. People's ultimate success leads to *Kaivalya*. As in the world the words of a tricky fellow are sweet at the start but end into misery so desires cheat men and throw them into disaster. Wealth, youth and life are not permanent. Sweet drinking water is not available in a desert. Those, who stay apart from *Dharma* and are suffering from fault of a particular type of birth, live without mental peace and happiness. Gods also are unhappy. Always they fear of losing heaven and banishment to earth. Water flows downwards. Similarly it is due to ignorance all living beings time and again become attracted to mundane affairs. For this reason one should not follow a life which leads him to come into this world again and again. It is like rearing up a snake by feeding it milk. Oh wise men! This world is a land of sorrow. Thinking about that try to be freed from this wretched *saṃsāra*. Emancipation gives men relief from staying in mother's womb as an embryo. Emancipation makes the mother free from labour pain. *Moksa* or emancipation is full of eternal bliss, light and knowledge. Three jewels- *Samyak-jñāna*, *Samyak-darśana* and *Samyak-cāritra* are the gateway of *Mokṣa*³⁷. Treading on the path of this trio, one can get emancipation.

Lord Ṛṣabhadeva delivered speech about Right knowledge (*Samyak-jñāna*) which is of five kinds viz *Mati*, *Śruta*, *Avadhi*, *Mahaparyaya*, and *Kevala*. Devotion to the nine categories and scriptures is called *Samyak-darśana*. This mundane affair has neither start nor end. *Jīvas* come by rebirth cycle. They, after enjoying *karmas* like *Jñānāvaraṇīya*, *Darśanāvaraṇīya*, *Vedanīya*, and *Antarāya* for

long time and also enjoying *Gotra*, *Nāma*, and *Mohanīya karmas*, get rid of the clutches of falsity (*Mithyātva*). All kinds of work, which leads to violence, are *Sāvadya-yoga* and not to be indulge in that is *Samyak-cāritra*. The Lord preached the audience not to be involved in telling a lie. Being influenced by Ṛṣabhadeva's sermon Bharata along with his sons and grandsons took initiation from the Lord. Ṛṣabhasena, son of Bharata took initiation together with four hundred ninety-nine other sons and seventy grandsons of Bharata. Bharata's dear son Marīci asked Brāhmī to take initiation. She also took initiation. Sundarī obtained permission to take vow, but was restrained by Bharata, and became the first laywoman³⁸. Bharata also adopted laymanship at the Master's feet. Many persons took different kinds of austerity or *vrata* according to their capability. Those were *Sādhuvrata*, *Śrāvakavrata*, *Samyaktva* and so on. From that time four groups of ascetics came in vogue. Ṛṣabhasena (Puṇḍarīka) and others became *sādhu*. Ladies who had similar capability like Brāhmī became *Sādhvī*. Bharata and who had similar grasping power of Lord's sermon became *Śrāvaka*. Sundarī who were of similar potential in spiritualism became *Śrāvikā*. At that time Lord taught the holy three steps (*tripadī*) - origination (*utpāda*), decay (*vyāya*) and permanence (*Dhrauavya*) to eighty-four *ganabhṛts*³⁹. Thus, we see that Lord Ṛṣabhadeva started giving shape to Jainism with valuable examples and precepts.

Nami and Vinami who were the sons of Kachha and Mahākaccha were advised by Ṛṣabhadeva that the worldly conquest is futile. *Samyam Sāmrajya* is greater conquest than mundane Empire. They took initiation under the mastership of the Lord. In an uncompromising battle between Bharata and Bāhubalī, Bharata broke the rule and Bāhubalī decided to break Bharata's *cakra* but at that very moment a feeling of *vairāgya* or *saṁvega* over came him. He was engrossed in *Kāyotsarga*. Ṛṣabhadeva's message, from *Aṣṭāpada* by Brāhmī and Sundarī, that pride should be given up absolutely made Bāhubalī destroying his *ghāti-karmas*⁴⁰. He became *Kevalī* by

Ṛṣabhadeva's grace. By the Sundarī's sincerity of taking *bhāvadīkṣā* Ṛṣabhadeva was very much pleased and he gave her initiation. Bharata's son Marīci failing to follow the hardship of *cāritra* became a *Tridaṇḍī*⁴¹ but he was always with Ṛṣabhadeva. So indirectly Ṛṣabhadeva was the founder of *Tridaṇḍī*-monks. Ṛṣabhadeva once went to *Aṣṭāpada*. Bharata reached there where he was told by Ṛṣabhadeva that after him, twenty-three *tīrthaṅkaras*, and after Bharata eleven *Cakravartī* would come one after another. Bharata's son Marīci would be the first Vāsudeva in Polanpur having the name Tripṛṣṭa. Then he would be born in *Mahāvideha*. His parent's name would be Dhanañjaya and Dhārīṇī. Then he would be *Cakravartī* and his name would be Priyamitra. After going round in rebirth cycle for a long, he would be born in *Bharataḥsetra* and would be the last Tīrthaṅkara Mahāvīra⁴². After that Ṛṣabhadeva went from *Aṣṭāpada* and spread his spontaneous material knowledge as well as his profound knowledge and experience of austerity like *Dharma*, meditation, and emancipation from corner to corner. He went to Kośala, Magadha, Kāśī, Chedi, Malava, Gujrat, Sourashtra and so on. He made a halt in the mountain Śātruñjaya. According to his instruction and blessing Ṛṣabhasena (Puṇḍarīka) along with *Gaṇadhara*s stayed in the mountain and Puṇḍarīka was the first among them to get emancipation by *Śaileṣī Dhyāna*. By Ṛṣabhadeva's grace Śātruñjaya became one of the remarkable pilgrimage of Jains⁴³. Ṛṣabhadeva as a king created four classes. Similarly in the case of *Dharma* also, he created four kinds of *Samghas*- *Sādhu*, *Sādhvī*, *Śrāvaka* and *Śrāvikā*. By his grace eighty four thousands of *Sādhus*, three lacs *Sādhvīs*, three lacs and fifty thousands *Śrāvakas*, five lacs and fifty four thousand of *Śrāvikas*, four thousand seven hundred and fifty four *Pūrvīs*, nine thousand *Avadhijñānīs* and twenty thousand *Kevalajñānīs* made the Jaina religion prosperous.

Ṛṣabhadeva came to know that his time had come to an end. He went back to *Āṣṭāpada*. When eighty-nine fortnights of the third spoke in this *Avasarpīṇī-kāla* remained, in the forenoon of the

thirteenth day of the warring moon, half of *Māgha* the constellation *Abhichi* being in conjunction with the moon, he sat in a *Paryāika* posture maintaining just the last body activity, he with draw himself gradually from the outer world and speech. Thus Lord attained there pure meditation called *Sūkṣmakriyā* with five body activities given up. Then the Lord attained there pure meditation named *Utsannakriyā* long enough for the utterance of five short letters.

All pain abandoned, possessing infinite knowledge and perception, his *karma* destroyed, his object accomplished, endowed with infinite power and bliss, having an upward course like the seed of the castor bean because of absence of earthly bondage Lord went to *Mokṣa* by a straight path⁴⁴.

References :

1. Jain, Surendra Kumar, *Glimpses of Jainism*, Motilal Banarasidass, Delhi, 1997, p. 5
2. *Ibid.* P. 5
3. *Ibid.* P. 5
4. *Ibid.* p.p. 7-8
 - (i) Mukerjee, Dr. Radha Kumud, *Hindu Sabhyatā*, IIIrd Edition, p.39
 - (ii) Dinkar, Ramdhari singh, *Sanskriti Ke Cāra Adyāya*, p.39
5. Nair, V.G., *Research in Religion: Rule And Reform Union Universal Welfare*, Addeswara Bhavanam. Poil-Red-Hills, Tamilnadu. Referred in the book Dr. Bothra, Lata, *Ādinātha Rṣabhadeva Aura Āṣṭāpada (in Hindi)*, Published by Jain Bhavan, Kalakar Street, Kolkata-7, 2005, p. 25
6. Banerjee, Satya Ranjan, *Introducing Jainism*, Published by Jain Bhavan, Kalakar Street, 2002, p. 1, Kolara-7
7. *Rgveda* 4, 58,3
8. *Jainism in different states of India*, p. 5

9. Banerjee, Introducing Jainism, p.5
10. *Atharvaveda- 16 (Prajāpati-sūkta)*
11. Hemacandra, Translated by Hellen M. Johnson, *Trīṣaṣṭīśalākā-puruṣacarīta*, vol 1, Oriental Institute, Baroda, 1931, p.100
12. Jain, Rai Champat, *Rīṣabha Deva : The Founder of Jainism*, The Indian Press, Allahabad, 1929, p.89
13. *Ibid* p. 92
14. *Ibid* p. 92
15. *Viṣupurāṇa-2,6,24*
16. *Manusmṛti-*
17. *Śivapurāṇa- 37,57*
18. *Bhāgavata Puraṇa-Sakndha-5*, Chapter-3, Verse-20
19. Hemacandra, Translated by Hellen M. Johnson, *Trīṣaṣṭīśalākā-puruṣa-carīta*, vol 1, Oriental Institute, Baroda, 1931
20. *Ibid* p. 100
21. *Ibid*. p.100
22. *Ibid* p. 132
23. *Ādipurāṇa* , IV Prava, verse-178
24. *Ibid* p. 139
25. *Ibid* p.148
26. *Ibid* p.150
27. *R̥ṣabhadeva: The founder of Jainism*, p.96
28. These are enumerated at several places, but all the lists vary. The oldest lists are in the *Samavāyāṅga-72*, and in the *Antakṛttdasā-* (B.p.30), where the names are given in the Mūlasūtra. At some places 64 arts of women are also enumerated (*Jambūdvīpa.30*).

29. *Triśaṣṭiśalākā-puruṣa-carita*, vol 1, p.155
30. *Ibid* p.160
31. *Ibid* p.165
32. *Ibid* p.166
33. *Ibid* p.167
34. *Ibid* p.183
35. *Ibid* p.187
36. (i) *Ibid* p.188
(ii) *Rṣabhadeva: The founder of Jainism*, p.124
37. (i) Umāsvāti, *Tattvārthasūtra-1/1*
(ii) *Triśaṣṭiśalākā-puruṣa-carita*, vol 1, pp. 201-207
38. *Ibid*, p.209
39. *Ibid*, p.209
40. *Ibid*, page 360
41. *Ibid*, page 360
42. *Ibid*, page 360
43. *Ibid*, page 360
44. *Ibid*, page 360



पार्श्वनाथ विद्यापीठ के प्राङ्गण में

National Seminar on

Dimensions of Indian Art Heritage and Contributions of Jainism & Buddhism

(17-19 October 2008)

(Organized under the auspices of I. C. H. R., New Delhi)

Organised by: Parshwanath Vidyapeeth

A Report

Śramaṇa and *Brāhmaṇa* are the two major traditions of Indian Culture, which have contributed a lot to the Indian Art Heritage. Promoted by Mahavira (c.599-527 BCE) and Gautama Buddha (c.563-c.483 BCE) respectively, Jainism and Buddhism are the two major religions of Śramaṇa tradition. The spread of the Śramanic traditions has been catalyst to the growth and efflorescence of the art and architecture along with individuality and maturity. Classification of arts on sectarian basis does not stand to reason, for no art is entirely Jaina, Buddhist or Vedic. The same aesthetic norms, theory of proportions, and formal concepts are basic to the art of all the three religious streams. When we talk of Jaina Art, we mean art specimens of sculpture, paintings, architecture so on and so forth created by artisans under the patronage of the followers of the Jaina Faith having Jaina context of rendering. Similar is the case with Buddhism and Vedic tradition also. The magnificent specimens of art found in Indian culture shows that Jainism and Buddhism have enriched the Art heritage of India by their remarkable sculpture, architecture and paintings. In this seminar their contribution will be discussed in terms of contents, motifs, and chronology to explicate its evolution

as well as its various chronological phases, aesthetic brilliance and their interactive features which will include the role of artisans also who lived during various phases of art activity and who, in fact, were responsible for bringing them to us.

Keeping in view the importance of the subject a National Seminar was organized under the auspices of ICHR, New Delhi, from 17 October to 19 October 2008 at Parshwanath Vidyapeeth. The Seminar was focused on following broader subject areas:

1. *Special features of the Indian Art*
2. *The origin and development of various phases of the Jaina Art*
3. *The origin and development of various phases of the Buddhist Art*
4. *The role of Śreṣṭhin/Masses to the development of Buddhist & Jaina Art*
5. *The role of Artisans in the development of Jaina and Buddhist Art*
6. *The impact of Brāhmaṇa tradition on Śramanic Art*
7. *The impact of Śramaṇa Tradition to Brāhmanic Art*
8. *The importance of Buddhist & Jaina tourist centres*
9. *The role of Śramanic art in the Social Harmony*
10. *The Literary sources of Śramanic Art*
11. *The Socio-economic dimension of Śramanic Art*

Inaugural ceremony of the seminar was held on 17th October, 08 at 9.30 AM. Prof. C. D. Singh, Vice Chancellor, Indira Gandhi National Tribal University was the Chief Guest. The Session was presided by Prof. Navang Samten, Vice Chancellor, Central Institute of Advanced Tibetan Studies, Sarnath, Prof. Ramjee Singh, Former Vice Chancellor, Jain Vishva Bharati, Ladnun (Rajasthan) was the Guest of Honour. Prof. Rai Ananad Krishna, Former Dean Faculty

of Arts, Banaras Hindu University, Varanasi was the special guest. Dr. Rakesh Tiwari, Director, U P State Archaeology, Lucknow was guest of special appearance. Prof. Ramanath Mishra delivered his KEYNOTE Address and gave a beautiful talk on ***Random Thoughts on Dimensions of Indian Art in Early Historical Settings: Religions In and Out.*** All the dignitaries delivered their lectures pinpointed on Dimensions of Indian Art Heritage and contribution of the Jainism and Buddhism. Dr. Vijaya Kumar, Lecturer, Parshwanath Vidyapeeth presented a Vote of thanks.

After Tea Break the First Academic Session was started at 11.30 AM. Three following papers were presented in this session-

1. Prof. M. N. P. Tiwari, *Art of Khajuraho: A study in Mutuality*
2. Dr. Manish Sinha, *Śramaṇa Kalā Men Śrīlakṣmī.*
3. Dr. Niharika, *Buddhist Sculptures of Medieval Period in Sarnath*

After Lunch **Second session** was held from 3.00-6.00 pm. In this session following scholars presented their papers:

1. Prof. Vibha Upadhyay, Jaipur, *Sanciyā Mātā Eka Aitihāsika Vivecana*
2. Prof. Prem Suman Jain, Shravanbelgola, *Jaina Kalā Ke Sāhityika Śrota*
3. Prof. R. C. Sinha, Patna, *The Philosophy of Śramanic Art and Social Harmony in Post-modern Age*
4. Prof. Ramjee Rai, Ara, *Jaina Citrakalā kā Svarūpa*
5. Prof. Vipula Dubey, Gorakhpur, *Jaina Kalā Ke Pratīka: Eka Adhyayana*
6. Dr. Sudarshan Mishra, Ara, *Jaina Santa Mahākavi Puṣpadanta Varṇita Nāṭyakalā Kā Vaiśiṣṭya*
7. Prof. H. N. Dubey, Allahabad, *Ellora Cave: A great Centre of Śramanic and Brahmanical Tradition*

१८२ : श्रमण, वर्ष ५९, अंक ४/अक्टूबर-दिसम्बर २००८

8. Smt. Saroj Jain, Shravanbelgola, *Citrakalā Ke Jaina Sāhityika Śrota*
9. Dr. Chandra Bhusan Mishra, Lecturer, Nalanda Bauddha Vihar, Nalanda
Nalanda Kalā Kā Vikāsa Pūrva Evaṁ Vartamāna Paripreksya Men
10. Dr. Deepak Jain, *Dakṣiṇa Bhārata Ke Jaina Tirtha Evaṁ Paryaṭana Sthala: Shravanbelgola*

On 18th October, 08 mornings first session of the seminar was held from 10.00 AM to 2.00 PM. In this session following scholars presented their papers:

1. Dr. R. K. Ahirwar, *Bauddha Kalā*
2. Dr. A. K. Singh, B. L. Institute, New Delhi, *Samavāyāṅga men Pratipādita Jaina Loka aura Tatsambandhita Citrakalā*
3. Dr. Rekha Chaturvedi, Gorakhpur, *Buddhist Composite Images*
4. Dr. Rajjan Kumar, *Contribution of Jaina Art to Indian Heritage*
5. Dr. Sunita Kumari, *Samājika Sadbhāva Aura Jaina Kalā*
6. Dr. Shilpa Cheda, Somaya Institute, *Gāndhāra Art: A New Dimension in Buddhist Art*
7. Dr. Preeti Kumari, Ranikhet, *Art, Education & Philosophy*
8. Dr. Rajneesh Shukla, *Jaina Citrakalā Eka Vivecana*
9. Mr. Vinay Kumar Rai, *Madhya Pradesh men Bauddha Stambhakalā kā Aitihāsika Vikāsakrama*
10. Dr. Vinod Kumar Tiwari. Reader, DCSK, Degree College, Maunath Bhanjan
Śramaṇa Sanskr̥ti Men Kalā Kā Svarūpa
11. Mr. Aphajal Hussain, *Bauddha Mūrtikalā Men Vibhinna Alarīkaraṇa*

12. Dr. S. N. Upadhyay, T D PG College, Jaunpur, *Jaina Evarñ Bauddha Granthon Men Grāma Sanniveṣa*
13. Dr. Kalpana Chaturvedi, *Bharatīya Kalā Ke Itihāsa Men Stūpon kā Mahattva*
14. Dr. Rahul Amritraj, Lecturer, AIHC, BHU, *Gandhāra Śilpa Śailī Ke Antargat Buddha Mūrtiyon Kā Vikāsa.*

After Lunch **Second session** was held from 3.00-6.00 pm. In this session following scholars presented their papers:

1. Dr. S. D. Trivedi, *Mathurā Ke Kañkālī Tilon Kī Kalā*
2. Dr. Vijay Kumar Jain, *Mahātmā Buddha ke Viśiṣṭa Guṇa*
3. Prof. Chandrashekhar Gupta, *Art & Architectural Heritage of Medieval Vidarbha with Special reference to Paramāra Period*
4. Ms. Kavita Singh, *Bauddhakalā men Pratibimbita Prācīna Bhāratīya Alañkaraṇa*
5. Dr. Aditya Prasad Ojha, *Bauddha Kalā men Kamala Pratīka*
6. Mr. Santosh Priyadarshi, JRF, Pāli Deptt. BHU, *Ajantā Kī Citrakalā Men Bauddha Citron Kā Ankana.*
7. Dr. Shyam Kishore Singh, Lecturer, ABS College, Lalganj, Vaishali, *Jaina Sāhitya men Kalā.*
8. Dr. Necraj Kumar Singh, Lecturer, R. B. S. College, Dhanushi (Vaishali), *Bauddha Sāhitya men Kalā.*
9. Miss. Gargi Mishra, Research Scholar, AIHC, BHU, *Hinda-Jawani Kalā Para Nalandā Kī Bauddhakalā Kā Prabhāva*
10. Dr. Mahendra Nath Singh, Reader, U. P. College, Varanasi, *Bauddha Citrakalā Kā Udgama Aura Vikāsa*
11. Miss. Sangeeta Bharati, *Tibbata Ke Kalā Para Bhāratīya Bauddha Kalā Ka Prabhāva*

On 19th October, 08 Morning first session of the seminar was held from 10.00 AM to 2.00 PM. In this session following scholars presented their papers:

1. Dr. Vimal Chandra Shukla, *Parnaśabarī Pratimāyca aura Sanskr̥tika Samanvayvādītā*
2. Dr. Arvind Vikram Singh, *Bharatiya Kalā-paramparā para Jaina Dharma Kā Prabhāva*
3. Prof. S. P. Dubey, *Mathurā Kī Mūrtikalā Aura Jaināmbara*
4. Dr. Ajay Shrivastava, *Sarnath Kalā Śāili-Utpatti evaṁ Vikāsa*
5. Archana Singh, *Sarnath men Sthāpatya kalā kā Vikāsa*
6. Dr. B. N. Sinha, *Philosophy of Art*
7. Dr. Shantiswarupa Sinha, *Mathurā Evaṁ Devagarha ke Jaina Abhilekhon men Kalā Sāmagrī*
8. Dr. Naina Pandey, *Kaṅkālī Ṭilā se Prāpta Jina Stūpa kī Vāstu Sanracanā*
9. Mr. Paramanand Sharma, Res. Scholar, Dept. of History, MG Kashi Vidyapeeth, Varanasi, *Guptakāla Men Jaina Murtikalā: Sarnath Ke Viśeṣa Sandarbha Men*
10. Miss. Nadini Kumari, Res. Scholar, Dept. of History, MG Kashi Vidyapeeth, Varanasi, *Prārambhika Jaina Mūrtikalā Ke Vividha Āyāma*
11. Miss. Priyanka Singh, Mr. Sujit Kumar Singh, Res. Scholar, AIHC, BHU, *Mādhy Pradesh Kī Jaina Pratimāon Men Nāga Aṅkana*
12. Dr. Kamlaesh Dubey, Reader, Dept. of History, Agrasen P. G. College, Varanasi; *Jaina Paramparā Aura Yakṣa Mūrtiyān*

13. Dr. Anil Kumar Singh, Curator, Bharat Kala Bhavan, BHU, *Chintāmaṇi Cakra Lokeśvara*
14. Mr. Prahlad Yadav, Res. Scholar, Dept. of History, MG Kashi Vidyapeeth, Varanasi, *Mathurā Kalā Kendra Para Gāndhāra Mūrtikalā Kā Prabhāva*

After Lunch before **Valedictory Session** was held from 3.00-4.00 pm. the following scholars presented their papers:

Prof. N. H. Samtani gave an illuminating talk on “*Physical signs of a Great man and its influence on Buddhist Art*”. Apart from his lecture few papers were also presented which are as under:

1. Dr. G. K. Lama, Fusion of Nalanda School of Art on the Sculptures of Tibet & Indonesia
2. Prof. Kamlesh Kumar Jain, *Jaina Kalā Aura Usakā Sanrakṣaṇa*
3. Prof. Rashmikala Agrawal, *Fourteen Auspicious dreams of Trīśalā in Jaina Paintings.*
4. Pappu Kumar, UGC, NET, Res. Scholar, BHU, *Bodha Gayā Kā Sanskr̥tika Adhyayana*
Mr. Arun Kumar Yadav, JRF, MG. Kashi Vidyapeeth, Varanasi, *Nalandā: Jaina Evaṁ Bauddhon Kā Prasiddha Tīrthasthala*
5. Dr. Lakshmi Shankar Yadav & Dr. Mahendra Singh Yadav, Varanasi,

Jaina Dharma Ke Kalāvaśeṣa: Bihar Rājya Ke Viśeṣa Sandarbha Men

At 4.00 PM Valedictory session was started. Prof. D. N. Tripathi, Former Chairman, ICHR, was the Chief Guest. This session was presided by Prof. Neelkanth Purushottam Joshi, Former Director, Lucknow Museum and Prof. Ram Harsh Singh, Former Vice Chancellor, Rajasthan Ayurved University; Jodhpur was the Special Guest at this occasion. Prof. Tripathi.



Prof. D. N. Tripathi speaking as Chief Guest highlighted the contribution of Śramaṇa Tradition in the field of art. He gave several examples in support of his talk. Prof. Ram Harsh Singh told that my field of interest is Āyurveda but I have visited many of the grand temples of Jainism like Taranga, Mount Abu etc. They are really masterpieces of Indian Art Heritage. Prof. Neelkanth Purushottam Joshi speaking as a Chairperson of the valedictory session introduced some rare manuscripts of Jaina Paintings and enlightened about its content. He also underlined the Śramaṇa Art and their contribution to Indian Art.

Dr. S. P. Pandey, Asst. Director, Parshwanath Vidyapeeth presented a vote of thanks.

निबन्ध प्रतियोगिता का परिणाम

पार्श्वनाथ विद्यापीठ नवयुवकों के बौद्धिक विकास एवं जैन धर्म-दर्शन के प्रति उनकी जागरूकता को बनाये रखने लिए निबन्ध प्रतियोगिता का आयोजन विगत कई वर्षों से करता आ रहा है। इस कड़ी में यह पाँचवीं निबन्ध प्रतियोगिता है। यह प्रतियोगिता दो खण्डों में होती है- प्रथम खण्ड (ग्रुप 'ए') में वे प्रतिभागी आते हैं जो १८ वर्ष से कम के होते हैं और द्वितीय खण्ड (ग्रुप 'बी') में वे प्रतिभागी सम्मिलित

होते हैं जो १८ वर्ष से ऊपर के हैं। प्रस्तुत प्रतियोगिता 'अनेकान्तवाद : सिद्धान्त और व्यवहार' विषय पर आयोजित की गई थी। इसमें जिन प्रतिभागियों ने प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय स्थान प्राप्त किया है उनके नाम इस प्रकार हैं-

ग्रुप 'ए'

प्रथम पुरस्कार	कु० हीना कोठारी, जयपुर
द्वितीय पुरस्कार	कु० गरिमा जैन, कोटा

ग्रुप 'बी'

प्रथम पुरस्कार	श्रीमती केशर जैन, इन्दौर
द्वितीय पुरस्कार	श्रीमती विनोद जैन, बड़ौत, बागपत
	श्रीमती जयश्री जैन, जोधपुर
तृतीय पुरस्कार	श्री जयवन्त पी० शाह, सुरत
	श्रीमती अनिता शाह, पन्धरपुर

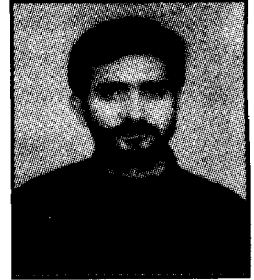
पुरस्कार वितरण की सूचना प्रतिभागियों को पत्र द्वारा दे दी जायेगी। पार्श्वनाथ विद्यापीठ की ओर से विजेताओं को साधुवाद।



जैन जगत्

श्री नरेन्द्र कुमार पाण्डेय पी-एच०डी० उपाधि से विभूषित

श्री नरेन्द्र कुमार पाण्डेय उर्फ सुनील पाण्डेय, ग्राम-नावाडीह, पो०- सिकरिया, जिला-रोहतास, सदस्य बिहार विधान सभा, पीरो (भोजपुर) को वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा के द्वारा उनके शोध-प्रबन्ध 'महावीर के उपदेश आधुनिक परिप्रेक्ष्य में' पर पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई है। आपने अपना शोध-प्रबन्ध प्रो० रामजी राय, अध्यक्ष, स्नातकोत्तर प्राकृत एवं जैनशास्त्र विभाग, वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा के कुशल निर्देशन एवं मार्गदर्शन में सम्पन्न किया है। पार्श्वनाथ विद्यापीठ आपकी इस उपलब्धि हेतु आपको बधाई देता है।



के०जे० सोमैया सेंटर फॉर स्टडीज इन जैनियम में दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी सम्पन्न

के०जे० सोमैया सेंटर फॉर स्टडीज इन जैनियम, सोमैया विद्याविहार कैम्पस में दिनांक २०-२१ अक्टूबर २००८ को द्विदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी भव्यता से सम्पन्न हुई। इस शैक्षणिक संगोष्ठी में जैन विश्वविभारती लाडनू तथा श्री भारत जैन महामंडल का सराहनीय योगदान रहा। भारतवर्ष के जाने-माने विद्वज्जनों ने भाग लिया, 'विषय था दक्षिण भारत में फैले हुए जैन धर्म की रंगीन झलक' (Spectrum of Jainism in Southern India), सोमैया ट्रस्ट के ऑनरेरी सेक्रेटरी श्री वि० रंगनाथनजी ने मुख्य अतिथि मुंबई के उप-कुलपति, डॉ० अरुण सावंत तथा अन्य मेहमानों का स्वागत किया। कार्यक्रम का शुभारंभ आगन्तुक अतिथियों द्वारा दीप प्रज्वलित करके किया गया। विद्वानों ने अपने शोध-पत्रों में दक्षिण भारत के तमिलनाडु, आंध्र, केरल, कर्णाटक, महाराष्ट्र आदि राज्यों में व्याप्त जैन तत्त्वदर्शन, भाषा, कला और स्थापत्य के बारे में महत्त्वपूर्ण जानकारी प्रस्तुत की।

उद्घाटन-सत्र के मुख्य वक्ता डॉ० हम्पा नागराजैया ने अपने वक्तव्य में कहा कि जैन धर्म ईसा पूर्व चौथी शती में तमिलनाडु से होता हुआ श्रीलंका पहुँचा। वहाँ के राजा पाडुकाभय जैन धर्म के आश्रयदाता थे। आपने दक्षिण के सभी राज्यों की

कलासम्पदा, भाषा, मंदिर और स्थापत्य पर जैन धर्म की प्राचीन, मध्यकालीन और वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डाला।

जैन धर्म के मर्मज्ञ डॉ० सागरमलजी जैन ने जैन धर्म से लुप्त हुआ एक सम्प्रदाय यापनीय संघ के बारे में बताया। इस सम्प्रदाय के करीब ६० शिलालेख पाँचवी से चौदहवीं शती तक के प्राप्त होते हैं। ये सब दक्षिण भारत से ही प्राप्त हुए हैं। आपके विचार से भगवती आराधना, स्वयंभू का पउमचरिउ, बृहत्कथा कोष, कषायपाहुड, हरिवंशपुराण आदि यापनीयसंघ के आचार्यों का योगदान है। हलसी-कर्णाटक से प्राप्त पाँचवीं शती के शिलालेखों से हमें वहाँ पर बसे हुए चार जैन संघ की विद्यमानता के उल्लेख प्राप्त होते हैं - १. निर्ग्रथ संघ, २. यापनीय संघ, ३. श्वेतपट्ट श्रमण संघ, ४. कुर्चक संघ। यापनीय संघ दिगम्बर परम्परा की तरह साधुओं की नग्नता को स्वीकार करता था और श्वेताम्बर परम्परा की तरह आगमशास्त्रों को मानते हुए केवलीभुक्ति और स्त्री मुक्ति को स्वीकार करता था। इस तरह यापनीय सम्प्रदाय कुछ हद तक श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं को मान्यता देता था।

संगोष्ठी में अन्य जिन विद्वानों ने भाग लिया उनके नाम हैं- डॉ० जवाहरलाल, पूर्व निदेशक, हैदराबाद म्यूजियम; डॉ० ए० एकांबरनाथन, तमिलनाडु; समणी आगमप्रज्ञाजी, लाडनू; डॉ० पद्मजा पाटिल; टी०एन० गणपति, निदेशक, योगसिद्ध रीसर्च सेंटर, चेन्नई; प्रोफेसर धन्यकुमार, मद्रास विश्वविद्यालय; समणी रमणीय प्रज्ञाजी, लाडनू; डॉ० वीराज शाह, प्रोफेसर किरनकांत चौधरी, व्यंकटेश विश्वविद्यालय, तिरुपति, डॉ० नलिनी जोशी, पुणे विश्वविद्यालय।

संगोष्ठी के अंत में आचार्य प्रवर श्री हेमचंद्रसागरसूरीश्वर जी का प्रवचन हुआ। आपने कहा कि हमने आंग्ल भाषा को इतना अपना लिया है कि वह हमारे रहन-सहन का हिस्सा बन गई है। अब हमें हमारी मातृभाषा को भी इतना ही महत्त्व देना चाहिये। आचार्यप्रवर ने जैन दर्शन के विकास में आचार्य समंतभद्र के योगदान की चर्चा भी की।

अंत में डॉ० गीता मेहता, निदेशक, जैन सेंटर, सोमैया इंस्टीट्यूट, ने आगंतुक विद्वानों के प्रति अपना आभार व्यक्त किया।

समारोह के अन्त में एक सांस्कृतिक कार्यक्रम रखा गया जिसमें कवि श्री युगराज जैन द्वारा निर्देशित नृत्यनाटिका 'जयति जिनशासनम्' प्रस्तुत की गई। यह नाटिका धर्म और समाज पर आधारित थी। समाज सुधार के उद्देश्य को लेकर चली यह नाटिका लोगों के दिल को छू गई।

१९० : श्रमण, वर्ष ५९, अंक ४/अक्टूबर-दिसम्बर २००८

धर्म प्रभाविका परम पूज्य प्रवर्तिनी साध्वी श्री ॐकारश्री जी म०सा० का महाप्रयाण

श्री दादर कच्छी जैन संघ (पूर्व) के प्रांगण में चातुर्मास हेतु विराजमान श्री पार्श्वनाथ चन्द्रसूरि गच्छीय-गच्छवरिष्ठ-तपस्वीरत्न परम पूज्य मुनिराज श्री विजयचंद्रजी म०सा० की आज्ञानुवर्तिनी एवं शासन-प्रभाविका परम पूज्य प्रवर्तिनी श्रीखांतिश्रीजी म०सा० की सुशिष्या धर्मप्रभाविका प०पू० प्रवर्तिनी आर्या ॐकारश्री जी म०सा० का आश्विन सुदी सप्तमी दिनांक ०६.१०.२००८ सोमवार को रात्रि १०.३० बजे समाधिपूर्वक महाप्रयाण हुआ।



पूज्याश्री की मांडणी (पालखी) यात्रा दिनांक ०७.१०.२००८ मंगलवार को दोपहर तीन बजे विशाल जनमेदनी के साथ जय-जय नंदा जय-जय भद्रा के उद्घोषपूर्वक सम्पन्न हुआ।

पूज्याश्री का कच्छ नांगलपुर गांव के श्री गोसर भाई पूंजा देढिया के कुल में मातुश्री लाखणीबाई की कुक्षि से वैशाख सुदी नवमी वि०सं० १९९० दि० ०९.०५.१९३४ को जन्म हुआ। फाल्गुन सुदी नवमी, वि०सं० २००६ दिनांक २६.०२.१९५० को अहमदाबाद में आप दीक्षित हुईं तथा फाल्गुन सुदि नवमी वि०सं० २०५७ दिनांक ०५.११.२००० सम्मैतशिखर में प्रवर्तिनी पद प्राप्त किया।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ में आपके महाप्रयाण का समाचार मिलते ही सभी शोकसन्तप्त हो गये। पार्श्वनाथ विद्यापीठ परिसर में आप दो वर्षों तक अपनी नौ योग्य शिष्याओं के साथ अध्ययनार्थ प्रवास कीं। विद्यापीठ पर आपकी विशेष कृपा थी। आप की प्रेरणा, आपका आशीर्वाचन, आपकी स्मृति सदा हमारे साथ रहेगी।

✽

साहित्य सत्कार

ग्राम्यभारत : श्रेष्ठ परम्परा, लेखक - बैद्यनाथ सरस्वती, प्रकाशक - निर्मल कुमार बोस स्मारक प्रतिष्ठान, वाराणसी।

प्रस्तुत पुस्तक, प्रो० बैद्यनाथ सरस्वती के द्वारा गावों पर किए गए शोध कार्य का मुद्रित रूप है। डॉ० सरस्वती यूनेस्को प्रोफेसर रहे हैं और अपने विषय (मानवशास्त्र) के जाने माने विद्वान् भी हैं। सन् १९५० के दशक में प्रो० निर्मल कुमार बोस ने गावों के विविध पक्षों के अध्ययन की एक योजना बनाई थी। उसी के अन्तर्गत चौदह वर्षों की महत्त्वपूर्ण अवधि में डॉ० सरस्वती ने अरुणाचल प्रदेश, अण्डमान एवं निकोबार द्वीप, आंध्र प्रदेश, आसाम, बिहार, गोवा, गुजरात, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, जम्मू-कश्मीर, कर्नाटक, केरल, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, मनीपुर, मेघालय, मिजोरम, नागालैण्ड, उड़ीसा, पंजाब, पांडीचेरी, राजस्थान, सिक्किम, तमिलनाडु, त्रिपुरा, उत्तर प्रदेश एवं पश्चिम बंगाल के कुल ८७ गावों का अध्ययन किया। उन गाँवों के विभिन्न विशेषणों को देखते हुए उन्होंने उन्हें १६ प्रकारों में विभक्त किया - १. प्रकृतिवादी गाँव, २. कलाकारों के गाँव, ३. भिक्षु गाँव, ४. विद्वानों के गाँव, ५. महाकाव्य के गाँव, ६. तीर्थ गाँव, ७. ग्रामदान गाँव, ८. स्वजनात्मक गाँव, ९. अनोखा गाँव, १०. मृदु गाँव, ११. कठोर गाँव, १२. पहला गाँव, १३. अन्तिम गाँव, १४. सीमान्त गाँव, १५. परित्यक्त गाँव, १६. व्यवस्थापित गाँव। इस शोध कार्य में गाँवों के भौतिक सांस्कृतिक तत्त्वों, हस्तकलाओं, जातियों, संगठनों, धार्मिक संगठनों, जातीय व्यवसायों तथा आधुनिक एवं सामाजिक आंदोलनों के अध्ययन हुए हैं, जो इस पुस्तक के चार भागों या अध्यायों - मनुष्य का आवास, सोलह कलाओं के गाँव, गांधीजी के सपनों का गाँव, अस्तित्वात्मक कारुणिकतापूर्ण गाँव में प्रस्तुत है।

भारतवर्ष गाँवों का देश है। इस देश की आत्मा गाँवों में देखी जा सकती है। दरअसल गाँवों के विकास में ही भारतीय जीवन का विकास निहित है। गाँव से अलग भारतीयता एक कल्पना है। इन दिनों हम भारतीय लोग गाँवों से शहर की ओर भाग रहे हैं जिसके कारण शहर में भीड़ बढ़ती जा रही है और गाँव वीरान होते जा रहे हैं। अपने मूलाधार से विलग होकर लोग संस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक एवं धार्मिक कठिनाइयों में डूबते जा रहे हैं।

१९२ : श्रमण, वर्ष ५९, अंक ४/अक्टूबर-दिसम्बर २००८

प्रो० सरस्वती ने गाँवों का अध्ययन करके लोगों को उस ओर आकृष्ट करने का प्रयास किया है जिधर समाज का समुचित कल्याण अवस्थित है। इस प्रयास से गाँधी जी के सपनों का भारत या गाँवों का भारत अपने सही रूप में साकार हो सकता है। शहर तो गाँवों का शोषक होता है, जो गाँवों के विकास में बहुत बड़ा बाधक है। विद्वान् लेखक की इस छोटी-सी रचना जो विविधताओं से परिपूर्ण है को देखकर निम्नलिखित पंक्तियाँ याद आती हैं -

शत सड़आ के दोहरे अरु नाविक के तीर

देखन के छोटन लगे घाव करे गम्भीर

इस पुस्तक को लिखकर प्रो० सरस्वती ने भारतीय समाज का बहुत बड़ा उपकार किया है जिसके लिए वे तथा उनके सहयोगीगण साधुवादार्ह हैं। पुस्तक की छपाई साफ एवं सुन्दर है। पुस्तक पठनीय व संग्रहणीय है।

डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा

पूर्व निदेशक

सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

पूर्व उपाचार्य, दर्शन विभाग,

म०गां०काशी विद्यापीठ, वाराणसी

जीवन का उत्कर्ष (जीवन दर्शन की बारह भावनाएँ), लेखक - श्री चित्रभानुजी, अनु०-डॉ० प्रतिभा जैन, मूल्य - २००/- रुपये, पृष्ठ - १५६, प्रकाशक - पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी-२२१००५; दिव्य जीवन सोसाइटी, ई-१, क्विन्स व्यू, २८/३० बालकेश्वर रोड, मुम्बई-४००००६; करुणा अन्तर्राष्ट्रीय, ७०, शम्बुदास स्ट्रीट, चेन्नई - ६००००१

अहिंसा सद्भावना एवं ध्यान-योग रूप त्रिवेणी के संगम योगाचार्य श्री चित्रभानुजी द्वारा आलेखित Twelve Facets of Reality : The Jaina Path of Freedom का हिन्दी रूपान्तरण 'जीवन का उत्कर्ष' में जैन दर्शन की उन बारह भावनाओं का सुन्दर विश्लेषण है, जो धर्म के प्रत्येक श्रद्धालु के हृदय में अनुप्राणित है।

जैन धर्म में भावना को 'भवनाशिनी' कहा गया है। भावना संसार-सागर से तिरने का उपक्रम है। भावना से ही व्यक्ति मुक्ति की ओर अग्रसर होता है। भावना से ही अशुभ लेश्याएँ शुभ लेश्याओं में परिवर्तित होती हैं। इस पुस्तक में यह दिग्दर्शित

किया गया है कि बारह भावनाओं से आत्मा का उन्नयन एवं जीवन का उत्कर्ष कैसे करें? आत्म-कल्याण के मार्ग की ओर कैसे बढ़ें?

पुस्तक की भूमिका में श्री दुलीचन्द जैन ने १२ भावनाओं के नाम तथा उनकी महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि 'भावनाएँ सत्य की अनुभूति के साधन हैं। भावना को अनुप्रेक्षा भी कहा जाता है, जिसका उद्देश्य जीवन के असली अर्थ को ग्रहण करके जीवन की वास्तविकता तक पहुँचना है। ये बारह भावनाएँ हैं - अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आश्रव, संवर, निर्जरा, बोधिदुर्लभ और धर्मा'

प्रस्तुत पुस्तक का सरस एवं श्रेष्ठ हिन्दी अनुवाद डॉ० प्रतिभा जैन ने किया है। डॉ० जैन ने अंग्रेजी में आलेखित कृति के भावों को बनाये रखने में अपनी कुशलता का परिचय दिया है। ध्यातव्य है कि प्रतिभा जैन एक सफल हिन्दी एवं अंग्रेजी अनुवादिका हैं, यही कारण है कि भाव और भाषा के अनुवाद में मणिकांचन का सुयोग है।

प्रस्तुत कृति सभी पाठकों के लिए उपयोगी है। पाठकगण अपने निजी पुस्तकालय में इस कृति को स्थान देंगे तो अवश्य ही अपने जीवन का उत्कर्ष कर पायेंगे।

डॉ० भद्रेश जैन

राष्ट्रीय सचिव, करुणा अन्तर्राष्ट्रीय, चेन्नई

कल्लखाने १०० तथ्य (सचित्र), लेखक - डॉ० नेमीचन्दजी जैन, मूल्य- ३०/- रुपये, प्रकाशक - करुणा अन्तर्राष्ट्रीय, ७०, शम्बुदास स्ट्रीट, चेन्नई - ६०००१; प्राकृत भारती अकादमी, १३-ए, मेन मालवीय नगर, जयपुर - ३०२०१७.

'कल्लखाने १०० तथ्य' - कल्लखानों की सचित्र विद्रूपता एवं क्रूरता का दिग्दर्शन करवाने वाली कृति है। पूर्व में इस कृति के आठ संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। ६०,००० प्रतियाँ पाठकों के मध्य पहुँच चुकी हैं, तथापि इस पुस्तक की मांग आती रही। इस ४८ पृष्ठीय पुस्तिका में मानस को झकझोर देने वाले १०० तथ्यों का समावेश किया गया है। यह पुस्तक डॉ० नेमीचंदजी जैन ने अपने अनुभव तथा शोधपरक तथ्यों के आधार पर लिखकर यह बताने का प्रयास किया है कि हमारे राष्ट्र में इसी प्रकार का रक्तपात होता रहा तो राष्ट्र में सुख-शांति, अमन-चैन की धारा कैसे संभव हो सकेगी?

चाहे मानव हो या पशु-दोनों जीवित रहना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। प्राण सभी को प्रिय है, किसी को भी अप्रिय नहीं है। कत्लखानों द्वारा की जा रही बर्बरता, उसके परिणाम, कत्लखानों द्वारा फैलाया जा रहा प्रदूषण आदि विषयों को लेखक ने पुस्तिका में स्पष्ट किया है। इस पुस्तिका में जितने भी आँकड़े हैं पुराने हैं, लेखक के समय के हैं तथापि दिल दहला देने वाले हैं। नये आंकड़े तो और भी अधिक खतरनाक होंगे।

शाकाहार के प्रबल पक्षधर एवं प्रचारक डॉ० नेमीचंदजी जैन भले ही देह से आज इस दुनियाँ में नहीं हैं, किन्तु उनकी यह कृति उनके नाम को, काम को युग-युगों तक जीवित रखेगी।

इस कृति को अगर आज के तथाकथित नेता, राष्ट्र के कर्णधार, न्यायाधीश, समाज के हितचिंतक आदि अक्षरशः पढ़ लेते हैं तो वे मांसाहार एवं कत्लखानों के कभी भी पक्षधर नहीं होते तथा आज का सर्वोच्च न्यायालय यह नहीं कहता कि पशुवध मानव का मूल अधिकार है। जिसे जीवन देना नहीं आता, उसे जीवन लेने का कोई अधिकार नहीं है। आज विदेशी मुद्रा अर्जित करने के लिये नित नये कत्लखाने खोले जा रहे हैं - यही स्थिति जारी रही तो कालान्तर में पशुओं का अकाल मंडराने लगेगा तथा हमारी कृषि प्रणाली एवं पर्यावरण पर घातक प्रभाव पड़ेगा।

द्रष्टव्य है, भारतीय एवं विदेशी महानायकों के विचार जो आवरण पृष्ठ पर मुद्रित हैं -

जवाहरलाल नेहरू ने कभी कहा था - "मैं कसाईखानों को बिल्कुल नापसंद करता हूँ। मैं जब कभी किसी बूचड़खाने के पास से गुजरता हूँ, मेरा दम घुटने लगता है - वहाँ कुत्तों का झपटना और चील-कौओं का मँडराना घृणास्पद लगता है। पशु हमारे देश के धन हैं। इनके ह्रास को मैं कदापि पसंद नहीं करता। सरकार ने लाहौर में जो कसाईखाना खोलने का निश्चय किया है, मैं इसका घोर विरोध करता हूँ। इसके विरोध में देशवासी जो भी कदम उठायेंगे, मैं उनके साथ रहूँगा।" प्रबल जन-विरोध के आगे विदेशी सरकार को भी घुटने टेकने पड़े थे तथा प्रस्तावित योजना को रद्द करना पड़ा था।

- जब हम खुद मृत प्राणियों की जीति जागती कब्रें हैं, तब फिर हम इस दुनियाँ में किन्हीं आदर्श स्थितियों की कल्पना कैसे कर सकते हैं? - जार्ज अल्बर्ट आइन्स्टाइन।

हम हैं कत्ल किये गये जानवरों की जिन्दा कब्रें उन जानवरों की, जिन्हें हमने भूख मिटाने के लिए कत्ल के घाट उतारा। यदि मनुष्य की तरह पशुओं को भी अधिकार होते कभी तो? - जार्ज बर्नार्ड शॉ

४०-५० चित्रों से युक्त यह पुस्तक पठनीय ही नहीं, अपितु जन-जन में प्रचारित करने योग्य है तथा प्रचारित कर एक बहुत बड़ा जनमत खड़ा करने में भी यह पुस्तक सहायक बन सकती है। आशा है दोनों संस्थान अपने संयुक्त प्रकाशन से भविष्य में भी पाठकों को लाभान्वित करते रहेंगे, संस्थान एवं संस्थान के पदाधिकारियों को साधुवाद।

डॉ० भद्रेश जैन

राष्ट्रीय सचिव : करुणा अन्तर्राष्ट्रीय, चेन्नई



साभार

१. कैसे जीएँ मधुर जीवन, लेखक- श्री चन्द्रप्रभ, प्रका०- जितयशा फाउंडेशन, बी-७, अनुकम्पा द्वितीय, एम. आई० रोड, जयपुर (राज०)
२. सफल होना है तो, लेखक- श्री चन्द्रप्रभ, प्रका०- जितयशा फाउंडेशन, बी-७, अनुकम्पा द्वितीय, एम. आई० रोड, जयपुर (राज०)
३. क्या स्वाद है जिंदगी का, लेखक- महोपाध्याय ललितप्रभ सागर, प्रका०- जितयशा फाउंडेशन, बी-७, अनुकम्पा द्वितीय, एम. आई० रोड, जयपुर (राज०)
४. कैसे पाएँ मन की शान्ति, लेखक- श्री चन्द्रप्रभ, प्रका०- जितयशा फाउंडेशन, बी-७, अनुकम्पा द्वितीय, एम. आई० रोड, जयपुर (राज०)
५. घर कैसे स्वर्ग बनाएँ, लेखक- श्री चन्द्रप्रभ सागर, प्रका०- जितयशा फाउंडेशन, बी-७, अनुकम्पा द्वितीय, एम. आई० रोड, जयपुर (राज०)।
६. कैसे बनाएँ अपना करियर, लेखक- श्री चन्द्रप्रभ सागर, प्रका०- जितयशा फाउंडेशन, बी-७, अनुकम्पा द्वितीय, एम. आई० रोड, जयपुर (राज०)।
७. माँ की ममता हमें पुकारे, लेखक- श्री चन्द्रप्रभ सागर, प्रका०- जितयशा फाउंडेशन, बी-७, अनुकम्पा द्वितीय, एम. आई० रोड, जयपुर (राज०)।
८. शान्ति पाने का रास्ता, लेखक- श्री चन्द्रप्रभ सागर, प्रका०- जितयशा फाउंडेशन, बी-७, अनुकम्पा द्वितीय, एम. आई० रोड, जयपुर (राज०)।
९. वाह! जिन्दगी, लेखक- श्री चन्द्रप्रभ सागर, प्रका०- जितयशा फाउंडेशन, बी-७, अनुकम्पा द्वितीय, एम. आई० रोड, जयपुर (राज०)।
१०. आपकी सफलता आपके हाथ, लेखक- श्री चन्द्रप्रभ सागर, प्रका०- जितयशा फाउंडेशन, बी-७, अनुकम्पा द्वितीय, एम. आई० रोड, जयपुर (राज०)।
११. कैसे करें आध्यात्मिक विकास और तनाव से बचाव, लेखक- श्री चन्द्रप्रभ सागर, प्रका०- जितयशा फाउंडेशन, बी-७, अनुकम्पा द्वितीय, एम. आई० रोड, जयपुर (राज०)।
१२. शानदार जीवन के दमदार नुस्खे, लेखक- श्री चन्द्रप्रभ सागर, प्रका०- जितयशा फाउंडेशन, बी-७, अनुकम्पा द्वितीय, एम. आई० रोड, जयपुर (राज०)।



NO PLY, NO BOARD, NO WOOD



ONLY NUWUD[®]

INTERNATIONALLY ACCLAIMED

Nuwud MDF is fast replacing ply, board and wood in offices, homes & industry, As ceilings

DESIGN FLEXIBILITY

flooring furniture, mouldings, panelling, doors, windows... and almost infinite variety of

VALUE FOR MONEY

woodwork. So, if you have woodwork in mind, just think NUWUD MDF

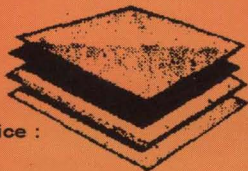


Registered Head Office :

20/6, Mahura Road,
Faridabad-121006,
HARYANA.

Tel: +91 129 230400~6,

Fax: +91 129 5061037.



#E-12608



*The one wood for
all your woodwork*

Marketing Offices

Ahmedabad : 502, Anand Mangal, Complex-1, Behind Omkar House, Near Swastika Charrasta, C.G. Road, Ahmedabad-380009. Tel: 079-30958929, 31028976, Fax: 079-26466585. **Bangalore** : D 1/4, Hayes Court, 11/9 Hayes Road, Richmond Town, Bangalore. Tel: 080-30958040, 22279219, Fax: 080-22279219. **Delhi/UP** : E-46/12, Okhala Industrial Area, Phase II, New Delhi-110020. Tel: 011-26385737, 26383234, 26384656, Fax: 011-41611846. **Chennai** : Tyagraj Complex, No. 583, (New No. 250), 4A, 4th Floor, Poonamalee High Road, Kilpauk, Chennai-600010. Tel: 044-30970880, Fax: 044-25323731. **Hyderabad** : A-3, View Towers, 6-2-1, Lakadi Ka Pul, Hyderabad-560904. Tel: 040-30935561, 23307604, 23314794. **Kerala** : 33/1560-G, Chakkaraparampu Road, Vennala (P.O.), Engakulam, Kochi-682028. Tel: 0484-3969454, 3969452. **Jalandhar** : 29, G.T. Road, Kalra Building, Jalandhar-144001. Tel: 09316039144, 09347203593. **Jaipur** : 42, Dhuleshwar Garden, 1st floor, Near Ajmer Road, Jaipur-302001. Tel: 0141-3028940, 270557, Fax: 0141-2214727. **Mumbai** : Shive Centre Office No. 214, 2nd Floor, Plot No. 72, Sec-17, Vashi Navi, Mumbai-400705. Tel: 022-39436667, 25002250, Fax: 022-25002250. **Pune** : 209, 2nd floor, Ashoka Mall, Opp. Hotel Sun N Sand, Bundgarden Road, Pune-411001. Tel: 020-39505076, 6121353, Fax: 020-26121353.